

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182827

UNIVERSAL
LIBRARY

ग्रन्थ-संख्या—१६९

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती-भंडार

लीडर प्रेस, प्रयाग

प्रथम संस्करण

सं० २०१० वि०

मूल्य ३)

मुद्रक—

बी० पी० ठाकुर

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

पाऊण णिरबसेसं कुसुमरसं अत्तणो कुसलदाए ।
जं उगिरेइ भमरो तं अण्णाणं कुणइ कज्जं ॥

पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसात्मनः कुशलतया ।
यदुद्गिरति भ्रमरस्तदन्येषां करोति कार्य्यम् ॥

[अपनी कुशलता से कुसुम-रस का पूरा पान कर मधुप जो कुछ उगल देता है, उसी से दूसरों का काम निकलता है ।]

—मुद्राराक्षस

पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी द्वारा सम्पादित दैनिक 'स्वतंत्र'
और मुखेखक तथा सुवक्ता पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी
की
स्मृति में

सूची

लेखक के दो शब्द— ...	...	...	क
श्री पारसनाथसिंह जी—जीवन-परिचय—श्री वाचस्पति प ठक			ङ
डाक्टर एल० एल० जामिन हाफ ...	...	...	१
काबागुची की तिब्बत-यात्रा ...	...	...	६
पादरी नोल्स की रोमन लिपि ...	...	...	२६
एक बन्दरिया की विचित्र शक्ति ...	...	...	३१
फ्रेडरिक निट्शे ...	...	...	३८
सामाजिक नाटक ...	...	...	४८
जौहरी या जादूगर ? ...	...	...	५६
मोती ...	...	...	६३
अकबर का खान-पान ...	...	...	७०
अकबर का विद्या-प्रेम ...	...	...	७६
मक्खन ...	...	...	८५
“वसुधैव—” ...	...	...	९१
कुत्ते की खुली चिट्ठी ...	...	...	९९
भूल ...	...	...	१०८
जूते ...	...	...	११५
लाल फीता ...	...	...	१२०
पक्षियों के पूर्वज ...	...	...	१२८
तुकबन्दी ...	...	...	१४२
अखबारी दुनिया ...	...	...	१४७
बांस ...	...	...	१५२
खां साहब ...	...	...	१५६

भारत के दो टंडन सपूत	...	...	१७७
वैशाली	...	...	१८२
चिलों का कंदी	...	...	१९१
जर्मनी की शक्ति उपासना	...	...	२००
उदारता	...	.	२०४
पंक्ति पुष्पांजलि	...	...	२०९
मोम की मूर्तियां	...	...	२१३
पड़ोसिन	...	...	२२१
प्रश्नोत्तर	...	...	२२७
अदि रहस्य (कविता)...	...	...	२२८
अज्ञात कारण "	...	...	२२
कर्तव्य-ग्रहण "	...	...	२२९
भक्ति-भाजन	...	...	२२९
असम्पूर्ण संवाद	...	...	२३०
उच्च का प्रयोजन	...	...	२३०
बन और राज्य	...	...	२३१
विश्व-प्रेम	...	...	२३२
कालिदास के प्रति	...	...	२३३
प्यार का अत्याचार	...	...	२३४
तुम भी आगे बढ़ते जाओ	...	...	२३५
कर्टिस की कुतिया	...	...	२३७
नेता	...	...	२४१
रघुपति, राघव, राजाराम	...	...	२४४

भाई पारसनाथ सिंह जी हिन्दी के पुराने लेखक हैं। साहित्य से उनका नैसर्गिक प्रेम है। जीवन के अन्य क्षेत्रों से उनका सम्बन्ध है और वे दिन-रात अन्य कार्यों में ही व्यस्त रहते हैं; फिर भी साहित्य उनको सदा अपनी ओर खींचता रहता है। अपने व्यस्त जीवन में से कुछ समय वे इसके लिये निकाल ही लेते हैं। कभी-कभी सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में उनके सरस और व्यंग्यात्मक लेख पढ़ने को मिल जाते हैं। कभी-कभी वे सहज भाषा में बिना किसी आडम्बर के चोट कर जाते हैं। प्रसन्न-मनोहर शैली में वे पाठक को नाना भांति की नई बातें बताते जाते हैं और अवसर पाने पर सहज भाव से व्यंग्य भी कर जाते हैं।

प्रस्तुत संग्रह में उनके जो निबन्ध संगृहीत हुए हैं, उन्हें दो श्रेणियों में बांट लिया जा सकता है। आरम्भिक निबन्ध (जो अधिकांश 'सरस्वती' में प्रकाशित हुए थे) अधिक परिचयात्मक या विवरणात्मक हैं। शायद सरस्वती-सम्पादक के हाथों उनका संस्कार कुछ आवश्यकता से अधिक हो गया है। जो निबन्ध बाद के हैं और जो सरस्वती में न प्रकाशित होकर अन्य पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं, उनमें पारसनाथ जी का व्यक्तित्व पूर्ण रूप से मुखर है। उनमें वे हँसते-हँसाते हैं, व्यंग्य करते हैं, चोट करते हैं। 'सरस्वती'—वाले लेखों में वे शिक्षक के रूप में हैं और परवर्ती निबन्धों में मित्र या साथी के रूप में। नई बातों के बताने का पुराना स्वभाव उनका यहां भी है, पर वह ऊपर उतराकर नहीं प्रकट हुआ है। सहज भाषा, प्रसन्न शैली और सरस संकेत इन निबन्धों की विशेषता है। बहुत साधारण विषयों को भी उन्होंने असाधारण बनाया है।

संग्रह के अन्त में कुछ कविताएँ भी हैं। में उनके इस रूप से परिचित नहीं था। यद्यपि ये कविताएँ अधिकतर अनूदित हैं, फिर भी इनमें

अपनी विशेषता हैं । कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कई छोटी-छोटी कविताओं का अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है । इन अनुवादों में भी उनकी सहज प्रसन्न-मनोहर शैली का परिचय मिलता है ।

मुझे यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि इन निबन्धों का संग्रह प्रकाशित हो रहा है, पर इनको एक स्थान पर संकलित देखकर मुझे यह भी लगा कि इनका लेखक साहित्य को और अधिक समय दे सकता तो अधिक लाभ होता । इस क्षेत्र में पाठक निश्चय ही 'यथालाभ सन्तोष' वाली नीति का पालन करना पसन्द नहीं करेंगे ।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह संग्रह साहित्य-प्रेमियों को रुचेगा और वे लेखक को साहित्य के लिये कुछ अधिक समय देने को बाध्य करेंगे । तथास्तु ।

काशी

१३-११-५३

हजारीप्रसाद द्विवेदी

लेखक के दो शब्द

कुसुमावली मेरे निबन्धों, कहानियों एवं कविताओं आदि का संग्रह है। यह संग्रह मैंने पढ़ने या कुसुमपुर में किया है। कुछ लोगों को इस पर आश्चर्य हो सकता है कि इस पढ़ने का ही नाम किसी समय पाटलिपुत्र और उससे भी पहले कुसुमपुर था। इसका प्रमाण प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों, विशेषतः मुद्राराक्षस नाटक में है। मुद्राराक्षस नाटक में अपने एक जासूस से पढ़ने की कुछ खबर पाकर कौटिल्य इसका उल्लेख इस प्रकार करता है—

पाऊण निरबसेसं कुसुमरसं अत्तणो कुसलदाए ।

जं उगिरेइ भमरो तं अण्णाणं कुणइ कज्जं ॥

अर्थात्

पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसात्मनः कुशलतया ।

यदुद्गिरति भ्रमरस्तदन्वेषां करोति काट्यम् ॥

इसमें इशारा कौटिल्य के कार्यकलाप के केन्द्र 'कुसुमपुर' की ओर है।

इसी सिलसिले में यह भी कहा जा सकता है कि गणित-ज्योतिष के जन्मदाता आचार्य इसी कुसुमपुर के रहनेवाले थे, जैसा कि उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ आर्यभटीय के एक टीकाकार कह गए हैं*—

अयं किल स्वयंभुवसिद्धान्तः कुसुमपुरनिवासिभिः कृतिभिः पूजितः
सत्स्वपि पौलिशरोमकवासिष्टयोगैषु तेनाह कुसुमपुरेऽभ्यर्चितं ज्ञानमिति ।

* द्रावन्कोर से सेतु लक्ष्मीमाला में प्रकाशित आर्यभटीय की भूमिका के प्रथम पृष्ठ पर ।

आर्यभटीय के टीकाकार परमेश्वर केरल प्रान्त के निवासी थे और शायद १८७० के लगभग आर्यभटीय का पता पहले पहल दक्षिण में ही लगा था। इसलिए कुछ लोगो का अनुमान है कि कुसुमपुर कही दक्षिण में ही था। पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि कुसुमपुर पटने का ही नाम था और आर्यभट इसी पटने के निवासी थे।

पाटलिपुत्र नाम की सार्थकता के सम्बन्ध में 'नवभारत' में एक लेख श्रीराम जी मिश्री 'मनोहर' लिख चुके हैं। उक्त लेख में वह लिखते हैं—“इस नगर की स्थापना के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथायें प्रचलित हैं। प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे ऐसा लगता है कि महाराज पुत्रक ने अपनी प्रिया पाटली की स्मृति में इसे बसाया। ऐसा भी कहा जाता है कि इसी स्थान पर अग्नि के पुत्र का शरीरान्त हो गया था। उसकी मृत खोपड़ी से एक पाटलि का वृक्ष पैदा हुआ। किसी ने इस नैमित्तिक पाटलि वृक्ष का प्रभाव देखकर कहा—‘यह स्थान सभी प्रकार से समृद्धि-सम्पन्न होगा।’ राजा उदायी ने यह भविष्यवाणी सुनकर इस वृक्ष के चारों ओर शहर बसाया और उसी का नाम पड़ा ‘पाटलिपुत्र’। भविष्य पुराण के ब्रह्मखण्ड में यह लिखा मिलता है कि कुशनाग के पुत्र महान बलशाली गाधि नामक राजा के जामाता ने अपनी प्रिया पाटली के नाम पर इसकी नींव डाली, एक और कथा के अनुसार सुदर्शन ने अपनी कन्या पाटलि के नाम पर इसे बसाया।”

कुसुमपुर नाम तो बहुत पुराना है, पर १९१९ ई० ई० के लगभग ही श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने पटने से ‘पाटलिपुत्र’ नाम का एक साप्ताहिक पत्र निकाला था। पत्र उच्च कोटि का था और जायसवाल जी का इस काम में हाथ बटानेवाले श्री पारसनाथ त्रिपाठी थे, जिनकी बाद में एक मोटर-दुर्घटना में मृत्यु हो गई। १९१९ ई० ई० के लगभग रुपये की एक्सचेंज दर भारत-सरकार द्वारा दो शिलिंग (सोना) कर दी

गई थी। इस पर पाटलिपुत्र में मैंने एक तुकबन्दी छपवायी थी जो इस प्रकार थी—

सोने के सर पर बैठेगा यह चांदी का सिक्का ।

मोटर को भी मात करेगा अब पटने का इक्का ॥

इस कहानी को विस्तृत रूप में मैंने “रूपये की कहानी” में बताया है ।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, कुसुमावली में मेरे निबन्धों, कहानियों एवं कविताओं आदि का संग्रह है। कविताओं की जगह तुकबन्दियों का कहना विशेष उपयुक्त होगा ।

इनके संग्रह में मुझे डा० उदयनारायण तिवारी से विशेष सहायता मिली है जिसके लिये मैं उनका अत्यन्त अनुगृहीत हूँ ।

अकबर का एक शेर है—

“न कटलेट है न कांटा छुरी है ।

मगर घी है, तो खिचड़ी क्या बुरी है ॥”

‘कुसुमावली’ को भी एक प्रकार की खिचड़ी समझिए । इसके लिए चावल और दाल तो ढूँढ़कर चन्द्रमाधव ले आए, और कहीं से घी भी जुटा दिया । चूल्हा फूकने और खिचड़ी पकाने में रंग बिहारी, ज्वाला, गोकुलेश (उर्फ फकटू बाबू), राम अनूप, चन्द्रशेखर आदि ने मेरी सहायता की है, जिसके लिए इन्हे माशीवाद धन्यवाद देता हूँ ।

खिचड़ी के सम्बन्ध में एक कहानी है । दो परिन्दे थे । उनके विषय में कहा जाता है कि खिचड़ी पक जाने पर—

‘दोनों मिलकर खाने बैठे-खाते-खाते हुई लड़ाई ।

देर से ताक में जो बंठी थी, चुपके चुपके बिल्ली आई ॥

आकर एक झपट्टा मारा, खतम हुई दोनों की लड़ाई ।

लड़ना भिड़ना ठीक नहीं है, पाठक ! बात समझ में आई ॥

तात्पर्य यह कि—ओम् शान्ति शान्ति शान्ति ।

कुसुमपुर

मेष संक्रान्ति, सं० १०१०

—पारसनाथ सिंह

श्री पारसनाथ सिंह जी—जीवन-परिचय

श्री पारसनाथ सिंह जी बिहार प्रान्त के एक प्रतिष्ठित भूमिहार ब्राह्मण-वंश के रत्न हैं। आपके पूर्वज उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के रहनेवाले थे। कालक्रम से वे लोग बिहार के सारन जिले के 'गोसी अमनौर' ग्राम में आकर बस गए। कुछ समय पूर्व तक आपका निवास-स्थान सारन जिले का यही ग्राम था। आपके पिता अपने व्यवसाय के लिए दरभंगा में रहते थे। अतः श्री पारसनाथ सिंह जी का जन्म-स्थान होने का सौभाग्य दरभंगा के 'लक्ष्मीसागर' मुहल्ले को है। वहीं १८९६ ई० तदनुसार विक्रम संवत् १९५२-५३ में आपका जन्म हुआ।

आपकी शिक्षा का प्रारम्भ 'गोसी अमनौर' ग्राम में ही उर्दू-फारसी के द्वारा हुआ। किन्तु यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। आप शीघ्र ही दरभंगा बुला लिए गए और वहाँ के 'राज स्कूल' में आपकी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। यह स्कूल बिहार प्रान्त के प्रतिष्ठित स्कूलों में अपना विशेष स्थान रखता था। प्रसिद्ध शब्दकोष 'हिन्दुस्तानी अंग्रेजी' और 'अंग्रेजी, हिन्दुस्तानी' के निर्माता पादरी श्री फालेन के सहयोगी मि० बाटलिग इसी स्कूल के हेडमास्टर रह चुके थे। परम्परा के कारण इस स्कूल का शिक्षण-स्तर ऊँचा था। यहाँ विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण पर भी पूरा ध्यान रखा जाता था। जिस समय श्री पारसनाथ सिंह जी इस स्कूल में प्रविष्ट हुए उस समय श्री कृपानाथ मजुमदार वहाँ प्रधानाध्यापक थे। किन्तु वे शीघ्र ही अवकाश ग्रहण कर गए और उनके स्थान पर बाबू छत्रधारी लाल जी प्रधानाध्यापक हुए। श्री पारसनाथ सिंह जी पर बाबू छत्रधारी लाल का विशेष प्रभाव पड़ा। वयोवृद्ध मजुमदार महोदय की भव्य आकृति आज भी आपके मन पर अंकित

आकर एक झपट्टा मारा, खतम हुई दोनों की लड़ाई ।

लड़ना भिड़ना ठीक नहीं है, पाठक ! बात समझ में आई ॥

तात्पर्य यह कि—ओम् शान्ति शान्ति शान्ति ।

कुसुमपुर

मेष संक्रान्ति, सं० १०१०

—पारसनाथ सिंह

श्री पारसनाथ सिंह जी—जीवन-परिचय

श्री पारसनाथ सिंह जी बिहार प्रान्त के एक प्रतिष्ठित भूमिहार ब्राह्मण-वंश के रत्न हैं। आपके पर्वज उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के रहनेवाले थे। कालक्रम से वे लखनऊ बिहार के सारन जिले के 'गोसी अमनौर' ग्राम में आकर बस गए। कुछ समय पूर्व तक आपका निवास-स्थान सारन जिले का यही ग्राम था। आपके पिता अपने व्यवसाय के लिए दरभंगा में रहते थे। अतः श्री पारसनाथ सिंह जी का जन्म-स्थान होने का सौभाग्य दरभंगा के 'लक्ष्मीसागर' मुहल्ले को है। वहीं १८९६ ई० तदनुसार विक्रम संवत् १९५२-५३ में आपका जन्म हुआ।

आपकी शिक्षा का प्रारम्भ 'गोसी अमनौर' ग्राम में ही उर्दू-फारसी के द्वारा हुआ। किन्तु यह क्रम अधिक दिनों तक नहीं चल सका। आप शीघ्र ही दरभंगा बुला लिए गए और वहाँ के 'राज स्कूल' में आपकी शिक्षा का प्रबन्ध हुआ। यह स्कूल बिहार प्रान्त के प्रतिष्ठित स्कूलों में अपना विशेष स्थान रखता था। प्रसिद्ध शब्दकोष 'हिन्दुस्तानी अंग्रेजी' और 'अंग्रेजी, हिन्दुस्तानी' के निर्माता पादरी श्री फालेन के सहयोगी मि० बाटलिंग इसी स्कूल के हेडमास्टर रह चुके थे। परम्परा के कारण इस स्कूल का शिक्षण-स्तर ऊँचा था। यहाँ विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण पर भी पूरा ध्यान रखा जाता था। जिस समय श्री पारसनाथ सिंह जी इस स्कूल में प्रविष्ट हुए उस समय श्री कृपानाथ मजुमदार वहाँ प्रधानाध्यापक थे। किन्तु वे शीघ्र ही अवकाश ग्रहण कर गए और उनके स्थान पर बाबू छत्रधारी लाल जी प्रधानाध्यापक हुए। श्री पारसनाथ सिंह जी पर बाबू छत्रधारी लाल का विशेष प्रभाव पड़ा। वयोवृद्ध मजुमदार महोदय की भव्य आकृति आज भी आपके मन पर अंकित

हैं। बाबू छत्रधारी लाल जी अँग्रेजी और गणित पर विशेष अधिकार रखते थे। साथ ही संस्कृत और हिन्दी के प्रति उनका अनन्य प्रेम था। वे थियोसोफिस्ट भी थे। फलतः इनके सम्पर्क से श्री पारसनाथ सिंह जी को संस्कृत, हिन्दी, अँग्रेजी और गणित का अच्छा परिज्ञान हुआ और सुन्दर संस्कारों तथा अग्रणी विचारों का लाभ मिला। अन्य अध्यापकों में पंडित योगधर मिश्र और बाबू महावीर प्रसाद के नाम श्री पारसनाथ सिंह जी श्रद्धापूर्वक लेते हैं। पंडित योगधर मिश्र साहित्याचार्य पंडित अम्बिकादत्त व्यास के सम्पर्क में आ चुके थे और हिन्दी-संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। पंडित अम्बिकादत्त जी मधुबनी और बिहार के अन्य नगरों में कुछ समय बिता चुके थे। संभवतः मिश्र जी मधुबनी में ही उनके सम्पर्क में आये। संवत् १९४० में व्यास जी मधुबनी संस्कृत स्कूल में नियुक्त हुये थे और वहीं से वह विहारियों के प्रीतिपात्र हो गये थे। प्रधानाध्यापक बाबू छत्रधारीलाल की कृपा से 'राज स्कूल' में 'सरस्वती' मासिक पत्रिका भी आती थी। 'सरस्वती' के प्रति श्री पारसनाथ सिंह जी जैसे सजग और जिज्ञासु विद्यार्थी का सहज संबंध स्थापित हो ही जाना था। अपने 'राज स्कूल' के विद्यार्थी-काल से ही आप 'सरस्वती' के नियमित पाठक बन गए। यह हिन्दी-प्रेम आज भी आपकी रगों में व्याप्त है।

राजस्कूल, दरभंगा, से सन् १९१२ में मेट्रिकुलेशन परीक्षा वजीफे के साथ पास करके आप काशी के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में प्रविष्ट हुए। यहां १९१६ ई० तक शिक्षा ग्रहण करते रहे। इसी वर्ष आप ने बी० ए० की डिग्री प्राप्त की थी। संस्कृत में आपने प्रयाग विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया था। उस समय सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की गणना देश के श्रेष्ठ शिक्षा-संस्थाओं में की जाती थी। वहां चुने हुए विद्वानों का अच्छा सम्मेलन था। यहां श्री पारसनाथ सिंह जी को देश के गौरव स्वरूप मनीषी डा० भगवानदास जी के सम्पर्क में आने का पूरा मौका मिला। यहां के एक और अध्यापक, हिन्दू धर्म और भारतीय

संस्कृति के महान् प्रेमी श्री जमशेदजी नौरोजी ऊनवाला से भी आप काफी प्रभावित हुए। यहां की हिन्दी सभा के आप मंत्री चुने गए थे। उसके सभापति आधुनिक इतिहास के अध्यापक श्री प्रकाश जी थे, जो इस समय मद्रास के राज्यपाल हैं। उस समय के आप के साथियों में श्री पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी, आत्माराम गोविन्द खेर (स्पीकर यू० पी० विधान सभा) तथा विधुभूषण मल्लिक (प्रधान न्यायाधीश, इलाहाबाद हाई कोर्ट) प्रमुख रहे हैं। बी० ए० करने के बाद आप ने प्रयाग से एल-एल० बी० किया और यहीं से कालेज के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने का अन्त हो गया।

राज स्कूल, दरभंगा में हिन्दी के प्रति आपके हृदय में जो प्रेम पैदा हुआ था, वह सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में फल-फूल उठा। राज-स्कूल में पढ़ते समय ही आप दरभंगा से निकलनेवाले साप्ताहिक पत्र 'मिथिला मिहिर' में लिखने लगे थे। 'मिथिला मिहिर' के सम्पादक श्री योगानन्द कुमार थे, और उसके सहकारी सम्पादक त्रिपाठी उर्फ बंगाली बाबू जो अभी तक वर्तमान हैं। दरभंगा में ही आपको बंगला सीखने का अवसर मिला था। इसके फलस्वरूप आप बंगला से कुछ लेखों और कविताओं का हिन्दी अनुवाद करने में समर्थ हुए थे। यह बात सेन्ट्रल हिन्दू कालेज के आपके साथियों से छिपी न रह सकी। श्री पदुमलाल पुन्नलाल बख्शी जी के अनुरोध से आपने 'एल० एल० जामिन हाफ' शीर्षक से एक लेख लिखा और उसे 'सरस्वती' में भेजा। उस समय द्विवेदी जी (पं० महावीर प्रसाद) 'सरस्वती' के सम्पादक थे। उन्होंने उस लेख को स्वीकार कर लिया। द्विवेदी जी का किसी लेख को स्वीकार करना लेखक की सिद्धहस्तता का प्रमाण था। श्री पारसनाथ सिंह जी को वह अपने पहले प्रयास में ही प्राप्त हुआ। वह लेख भी बहुत दिलचस्प था। एल० एल० जामिन हाफ ने 'ऐस्पेरान्तो' नाम की एक विश्वभाषा तैयार की थी। उसी का परिचय इस लेख में था। इस लेख के छपने से हिन्दी भाषा-भाषियों में इसकी उस समय अच्छी

चर्चा रही। अब श्री पारसनाथ सिंह जी 'सरस्वती' के लेखक बन गए और इनकी गणना कुछ समय बाद हिन्दी के उच्च कोटि के लेखकों में होने लगी।

द्विवेदी जी की प्रीति तो श्री पारसनाथ सिंह जी को मिली ही, आगे चलकर श्री अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी, श्री जगन्नाथ प्रसाद जी चतुर्वेदी, पं० पद्मसिंह जी शर्मा आदि भी आपको अपना स्नेहपात्र एवं मित्र मानने लगे। कार्यरत जीवन का प्रारम्भ भी आपने हिन्दी की सेवा से ही किया। श्री अम्बिका प्रसाद जी वाजपेयी के सम्पादकत्व में कलकत्ते से निकलनेवाले पत्र 'स्वतंत्र' में आप सहायक सम्पादक होकर काम करने लगे। उसमें आपकी बहुविध रचनाएं प्रकाशित होती रहीं। खेद है, आज इस पत्र की कहीं फाइल भी न मिलने के कारण आपकी ये बहुत-सी चीजें देखने को भी नहीं मिल सकतीं।

कलकत्ते में ही आपकी प्रतिभा से आकृष्ट होकर पंडित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने आपका परिचय श्री घनश्यामदास जी बिरला से कराया। श्री घनश्यामदास जी बिरला ने आपको स्वतंत्र से खींच लिया और अपने अंग्रेजी के सायंकालीन पत्र 'न्यू अम्पायर' के लिये नियुक्त किया। आपकी कार्य-कुशलता और सभ-बूझ अब छिपी न रह सकी। शीघ्र ही आपको 'न्यू अम्पायर' को छोड़कर पहले बिरला जी के सुपुत्र श्री लक्ष्मीनिवास जी बिरला के शिक्षक और बाद में श्री घनश्याम दास जी के प्राइवेट सेक्रेटरी का काम संभालना पड़ा। इस पद पर रहते हुए कितने विविध प्रकार के कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न करना पड़ता रहा होगा यह तो हम लोग अनुमान ही लगा सकते हैं, और तब भी हम सब की कम्पना निश्चित ही बड़ी अधूरी रहेगी। इस पद पर रहते हुए आपने अपने काम को इस क्षमता से निबाहा कि आज आप बिरला-परिवार के एक अभिन्न अंग बन गए हैं। श्री घनश्यामदास जी बिरला एवं उनके बन्धुओं के साथ आपको अनेक बार बिदेश भी जाना पड़ा है। आप इंग्लैण्ड, जर्मनी, फ्रांस, इटली, स्वीटजरलैण्ड, स्वीडेन,

अमेरिका आदि अन्यान्य देशों की यात्रा कई बार कर चुके हैं। इन यात्राओं का उद्देश्य सैर ही नहीं होता था, अपितु वहाँ की व्यावसायिक कार्य-प्रणालियों का अपने देश के निर्माण के लिए अध्ययन करना, उपयोगी व्यवसायों का अपने देश में स्थापित करने के लिए उनकी मशीनों की खरीद करना, और उन व्यवसायों को परिचालित करने के लिए उपयुक्त शिक्षित व्यक्तियों को खोज निकालना होता था। आपने अपने जिम्मे पड़े इन कामों को भी अत्यन्त सफलता से निभाया। इन पर्यटनों के कारण आप आधुनिक कार्य-पद्धति के भी विशेष जानकार बन गए। इंग्लैण्ड, फ्रांस और स्वीटजरलैण्ड आदि की यात्राओं में आपका सम्पर्क देश के महत्तम व्यक्तियों, महात्मा गांधी, पं० मदन मोहन मालवीय, लाला जी आदि से भी हुआ। यों भी देश के गण्य-मान्य व्यक्तियों में बहुत कम ही ऐसे लोग होंगे जिनसे आपका व्यवहार न हुआ हो।

पश्चिमी जगत की वैज्ञानिक व्यवसाय-प्रणाली की जानकारी के कारण आपको उड़ीसा में स्थापित 'ओरियंट पेपर मिल' का कार्य संचालन करना पड़ा। बांस से भरे बनों के बीच जहाँ जंगली जीवों का एकाधिकार था वहाँ आधुनिक भारत के एक महत्तम निर्माण-कार्य को स्वरूप प्रदान कर देने के लिये आप श्री ब्रजमोहन बिरला को श्रेय देते हैं। प्रारम्भ में प्रतियोगियों ने इस योजना का काफी विरोध किया। मिल आरम्भ होते-होते द्वितीय महासमर भी छिड़ गया। इससे कुछ नयी कठिनाइयाँ खड़ी हो गयीं। पर ब्रजमोहन जी के साहस की बलिहारी है कि उन्होंने इस मिल को सफलता के शिखर पर पहुँचाकर ही दम लिया। इस पेपर मिल का आदि से अन्त तक का काम आपकी देख-रेख में हुआ है। ऐसे ही और भी बिरला जी के अनेक महत्वपूर्ण निर्माण-कार्यों में आपका योग रहा है, जिसकी जानकारी आपके मूक सेवाभाव के कारण सदैव नीब के पत्थर की तरह अदृश्य में ही रहेगा।

इस तरह के कामों में फँस जाने के कारण आपके निजी लेखन को भारी धक्का लगा, फिर भी हिन्दी का हित सदैव आपके सामने रहा।

महामना मालवीय जी की प्रेरणा से आपने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' का कार्य सँभाला और उसकी स्थिति सुदृढ़ हो जाने पर वहाँ से हिन्दी का दैनिक 'हिन्दुस्तान' निकाला। उत्तर भारत के प्रमुख पत्रों 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'लीडर', 'सर्चलाइट' आदि से आपका घनिष्ठतम सम्बन्ध है। इन सभी संस्थाओं से हिन्दी को प्रगति देने में आपने विशेष काम किया है। लीडर प्रेस से 'संगम' साप्ताहिक तथा सर्चलाइट से दैनिक 'प्रदीप' का प्रकाशन आपके ही साहस का परिणाम रहा है। 'भारती-भंडार', जो न्यूजपेपर्स लि० का हिन्दी प्रकाशन विभाग है, के भी उत्तरोत्तर वृद्धि में आपकी देख-रेख का महत्त्व है। पहले 'भारती भंडार' भी अन्य प्रकाशकों की तरह लेखकों की पुस्तकों का कापी राइट खरीद लेता था। आपकी देख-भाल में 'भण्डार' का काम आते ही आपने कापी राइट खरीदी पुस्तकों का 'स्वत्व' लेखकों के हक में भण्डार से छुड़वा दिया एवं लेखकों को रायल्टी मिलने की व्यवस्था करवा दी। इससे हिन्दी के दर्जनों उच्च कोटि के लेखकों को आपने अपनी सच्ची हार्दिकता से लाभान्वित किया। हिन्दी की दूसरी विख्यात प्रकाशन-संस्था 'सस्ता साहित्य मंडल' की व्यवस्थापिका समिति के भी आप निरन्तर सदस्य रहते आये हैं और इसे अपनी योग्यता से अग्रसर करते रहे हैं। 'बिरला एजुकेशन ट्रस्ट' जिसे इस देश के साहित्य और विज्ञान के शिक्षण और अन्वेषण में योग देने का एक अपूर्व महत्त्व प्राप्त है, के भी आप चिरकालिक सदस्य हैं तथा श्री कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी द्वारा स्थापित 'बम्बई के भारती विद्या भवन', जो भारतीय संस्कृति, कला एवं इतिहास आदि के प्रशिक्षण एवं प्रसार की एक उत्साही संस्था है, की इतिहास-समिति के आप भी सदस्य हैं।

हिन्दी में उच्चकोटि के प्रकाशन में आपकी शुरु से रुचि रही है। बहुत पहले 'भारती पब्लिशर्स' नाम से भी एक संस्था आपने श्री राजेश्वर नारायण सिंह के सहयोग से खोली थी। उसके लिए आपने स्वतः पं० पद्मसिंह जी शर्मा की पुस्तक 'पद्म पराग' का सम्पादन

किया। उस समय शर्मा जी आपके परिश्रम और नैष्ठिकता से बहुत प्रभावित हुए तथा अपनी भूमिका में इसका उल्लेख भी किया। अपनी एक पुस्तक 'कैसर की राम कहानी' भी आपने इसी संस्था के लिए लिखी थी। किन्तु यह संस्था कुछ कारणों से चल न सकी और हानि उठाकर उसका कार-बार बन्द कर देना पड़ा।

सामाजिक जीवन को ऊँचा उठाने में योग देने के लिए ही आपने अपनी ओर से एक स्कूल तथा एक पुस्तकालय की भी स्थापना की है। दोनों संस्थायें मुजफ्फरपुर जिले के 'बोचहा' ग्राम में स्थित हैं। आपने अपना नया निवासगृह भी अब यहीं कर लिया है।

आपको ग्राम-जीवन से प्रेम है। आपका रहन-सहन भी बहुत ही सादा है। मनोरंजन की दृष्टि से पहले कभी आप ताश अथवा शतरंज भले ही खेलते हों, किन्तु मेरे देखते तो साहित्य चर्चा में ही आपका मन रमता है। यही कारण है कि आप अपनी रुग्णता के दिनों में भी आजकल साहित्य का ही काम करते रहते हैं। इन दिनों में ही आपने 'विनोद और ध्यंग' नामक एक पुस्तक महाकवि अकबर 'इलाहाबादी' पर लिखी है तथा 'ज्योतिषचर्चा' नामक भारतीय ज्योतिष के इतिहास की भी एक पुस्तक की तैयारी कर रहे हैं। और भी कुछ पुस्तकों के लिखने की आपके मन में तीव्र इच्छा है। आपकी पहले प्रकाशित पुस्तकों में 'जगत् सेठ', 'पक्षी-परिचय', 'रूपये की कहानी' का उत्तरार्ध तथा 'भारतीय करेंसी के इतिहास की एक झलक' (अंग्रेजी) मुख्य है। आपकी इन पुस्तकों से भी हिन्दी-साहित्य का गौरव बढ़ा है।

—वाचस्पति पाठक

—

कुसुमावली

भाषा में बोलने की अपेक्षा सभा-समितियों में चुप रहना ही अच्छा समझती है।

खैर ज़ामिनहाफ ने सोचा कि शायद सब लोग “लैटिन” पढ़ना मंजूर कर लेंगे। इसमें कोई भी आनाकानी न करेगा, कारण यह कि “लैटिन” को यूरोप में वही सम्मान प्राप्त है जो “संस्कृत” को इस देश में है। पर ईश्वर की इच्छा ही कुछ और थी। “लैटिन” सब की व्यावहारिक भाषा होने का दावा रखती थी सही, पर जटिल होने के कारण समयानुकूल न थी।

अन्त में ज़ामिनहाफ ने एक विलकुल ही नई भाषा के आविष्कार का विचार किया। उन्होंने बहुत-सी भाषाओं के शब्दों का संग्रह करना आरम्भ किया। उन्होंने देखा कि बहुत-से शब्दों को, भाषाओं में भिन्न-भिन्न रूप प्राप्त होने पर भी, उनमें कुछ-न-कुछ सादृश्य अवश्य है। इससे यह जान पड़ा कि परस्पर सादृश्य रखनेवाले शब्दों की उत्पत्ति किसी एक ही मूल शब्द से हुई होगी। अतएव ज़ामिनहाफ ने यथा-सम्भव इन्हीं मूल शब्दों के आधार पर एक नवीन भाषा के निर्माण का इरादा पक्का कर लिया। कुछ दिनों में उन्होंने उसका निर्माण भी कर दिया।

उन्होंने इस भाषा के विषय में अपने मित्रों से बातचीत की। वे इसे बहुत-से लड़कों को पढ़ाने भी लगे। पर शुरू में सभी ने इन्हें पागल के सिवा और कुछ न समझा। किन्तु दृढ़ निश्चय तथा निष्काम परिश्रम का नतीजा यह हुआ कि कुछ ही काल में यह नवीन भाषा नागरिक से सार्वभौमिक बन चली। अब तो व्यालिस्टोक नगर ही नहीं, किन्तु सारा संसार इसे “अन्तर्जातीय भाषा” के उच्च पद से गौरवान्वित कर रहा है।

जिस समय ज़ामिनहाफ ने संसार के सामने यह भाषा रखी थी उस समय इसकी भावी उन्नति के विषय में बहुतों को संदेह हुआ था। किन्तु इसके प्रेमियों की सख्या क्रमशः बढ़ती ही गई। इसके जन्मदाता

का स्वप्न अब लोगो को कार्यरूप में परिणत हुआ दिखाई देने लगा। जिसने इसे एक बार देखा वही इसका प्रेमी बन गया। आजकल जितने पत्र, संसार भर में, इस भाषा में निकल रहे हैं उनकी संख्या १०० के ऊपर है। अनुवादित पुस्तको के सिवा मूल ग्रंथों की संख्या भी दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। “गीता” का अनुवाद भी अभी हाल ही में एक साहब ने इस भाषा में प्रकाशित किया है। अब बहुत से राज्यों की ओर से, इस भाषा के वार्षिक अधिवेशन में, एस्पेरान्तो-प्रतिनिधि भेजे जाने लगे हैं क्योंकि उनका यह विश्वास दिन-पर-दिन दृढ़ होता जा रहा है कि विभिन्न राष्ट्रों के बीच में प्रेम बढ़ाने और सारे संसार में शान्ति स्थापित करने के प्रयत्न में इस भाषा से बड़ी सहायता मिल सकती है।

सर्वसाधारण को विशेष लाभ पहुंचाने के इरादे से इस भाषा के प्रेमियों की ओर से यूरोप में एक समिति खुली है। उसके संस्मरों की नामावली, प्रतिवर्ष, उनके पूरे पूरे पते के साथ, प्रकाशित की जाती है। यदि कोई मनुष्य संसार के किसी स्थान के विषय में कुछ पूछना चाहता हो तो वह वहाँ के स्थानीय संस्मर से पत्र द्वारा पूछ सकता है। इस समिति के संस्मरों का कर्तव्य है कि यदि कोई यात्री उनके स्थान पर अपने आने की अग्रिम सूचना उन्हें दे दे तो वे उसकी यथाशक्ति सेवा-शुश्रूषा करने को तैयार रहे।

इस भाषा का अध्ययन अब बहुत-से देशों में व्यापारिक शिक्षा का एक आवश्यक अंश हो गया है। संसार इस भाषा से और भी अनेक लाभ उठा रहा है, जिनका उल्लेख स्थानाभाव से यहाँ नहीं किया जा सकता।

एक साल विलायत के कैम्ब्रिज नगर में इस भाषा का एक वार्षिक अधिवेशन हुआ था। वहाँ के विश्वविद्यालय में एक साहब “लैटिन” के अध्यापक थे। आप कई भाषाओं के उत्कृष्ट ज्ञाता थे, पर आप को “एस्पेरान्तो” के प्रचार से कुछ भी सहानुभूति नहीं थी। आप इसको

नई रोशनी वालों की करतूत समझ कर इससे घृणा करते थे। पर कई एक मित्रों के कहनेसे आपने इस भाषा का पढ़ना स्वीकार किया। अधिवेशन होने में सात ही आठ रोज़ बाकी रह गये थे। पाठारम्भ करते ही उक्त महोदय इनके गुणों पर मोहित हो गये और इस अल्प समय में ही आपने इसके साहित्य का इतना अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया कि अधिवेशन के दिन आपने इसमें एक बड़ी ललित वक्तृता भी दे डाली। आपने कहा कि यदि कोई मनुष्य विदेशी भाषाओं का अध्ययन करना चाहता हो तो उसे पहले “एस्पेरान्तो” में प्रारम्भ करना उचित है।

यह भाषा कितनी सरल है, इसका अनुमान पाठक पूर्वोक्त उदाहरण से कर सकते हैं। इस भाषा में—

१—किसी भी व्याकरण-सम्बन्धी नियम का अपवाद नहीं होता। एक ही नियम की सर्वत्र पाबन्दी की जाती है।

२—एक शब्द का एक ही अर्थ होता है। विभक्तियों और प्रत्ययों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। उनको जान लेने से मनुष्य एक ही मूल-शब्द जान कर अनेक नये शब्द आप ही-आप बना सकता है।

३—शब्दों का उच्चारण ठीक-ठीक, उनकी लिखावट के अनुसार होता है, उसमें कभी कुछ फर्क नहीं पड़ता। उच्चारण के सबध में इस नियम के न होने से जो कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं उनका अनुमान वही लोग कर सकते हैं जिन्हें अँगरेजी पढ़ने का मौभाग्य प्राप्त हुआ है। स्वार्थ-त्याग की ससार में बड़ी महिमा है। प्रायः देखा जाता है कि मनुष्यों के प्राण नाश करने वाली मशीनों का आविष्कार करके लोग थोड़े ही समय में मालामाल हो जाते हैं। पर ससार को अनन्त लाभ पहुँचानेवाली एस्पेरान्तो भाषा के आविष्कर्ता डाक्टर जामिनहाफ ने कहा है कि—

“अपनी भाषा के आविष्कार से धन-संचय करना मुझे अभीष्ट नहीं। मुझे अनुग्रहीत करने का एकमात्र उपाय यही है कि आप

इस भाषा को पढ़े और मेरी ही तरह विश्वास करे कि सभी लोग—
क्या अमीर और क्या गरीब—चाहे वे जिस देश के निवासी हों, आपके
भ्रातृतुल्य हैं। उनके साथ बैर-विरोध नहीं, किन्तु प्रेम का बर्ताव करना
ही आपका धर्म है।

डाक्टर जामिनहाफ अभी जीवित है। वे नेत्र-रोगों के चिकित्सक हैं।

इस लेख के लिखते में मुझे अध्यापक जे० एन० उनवाला साहब
से बड़ी सहायता मिली है। अतः मैं उनका कृतज्ञ हूँ। यदि कोई
महाशय इस विषय में विशेष जानना चाहे तो वे उनको लिख सकते
हैं। उनका पता इस प्रकार है :—*

सेन्ट्रल हिन्दू कालेज,
बनारस।

(सरस्वती १९१३, मार्गशीर्ष शुक्ल १३७०)

* यह सरस्वती में मेरा पहला लेख था और जिस समय यह
प्रकाशित हुआ था उस समय महासमर नं० १ छिड़ा भी न था। छिड़ने
पर उसने संसार की शान्ति को बड़ा धक्का पहुँचाया। स्पेरान्तों से
होनेवाली आशाओं को उसने बहुत दिनों के लिये भंग कर दिया।

—लेखक

कावागुची की तिब्बत-यात्रा

तिब्बत का भौगोलिक अनुसन्धान करने और वहाँ के लोगो की यथार्थ स्थिति का पता लगाने के लिए लोगो ने समय-समय पर अनेक चेष्टाये की है। किन्तु ऐसे साहसी पुरुषो की सख्या बहुत ही थोड़ी है जो इस विषय मे विशेष रूप से कृतकार्य्य हुए है। सब से पहले, १३२८ ईसवी मे, ओडोरिक नाम के एक ईसाई पादरी ने तिब्बत जाकर वहाँ अपना मत फैलाने का यत्न किया। किन्तु, अन्त में, उसे हताश होकर वहाँ से लौटना पडा क्योंकि उस देश मे बौद्धमत के सामने ईसाई धर्म का प्रचार होना सर्वथा असम्भव था।

१६६१ ईसवी मे फ्रान्स के दो निवासी तिब्बत मे भ्रमण करने निकले। परन्तु वे लोप लासा तक पहुँचे या नही, इस विषय मे सन्देह ही है। फिर भी बहुत से लेखको का विश्वास है कि वे दोनो पेकिन से लासा तक गये। वहाँ से नैपाल होकर भारत लौट आये। लासा तिब्बत की राजधानी है। अतएव, तिब्बत की राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था का पूरा-पूरा ज्ञान वहाँ जाने ही से प्राप्त हो सकता है।

१७७४ ईसवी मे भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल, वारेन हेस्टिंग्स ने तिब्बत के साथ व्यापार सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा से एक अँग्रेज़ अफसर को वहाँ भेजा। किन्तु वह लासा तक न जा सका। तब हेस्टिंग्स ने, १७८१ में, कप्तान टर्नर नामक एक और साहब को तिब्बत भेजा। यह महाशय तिब्बत में दो बरस तक रहे। एक और अँग्रेज़ को भारत से लासा तक जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनका नाम था टाम्स मैनिंग। यह बात १८११ ईसवी की है।

इस बीच में रूस, आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, और उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में जापान, अमेरिका आदि कई देशों का ध्यान तिब्बत की ओर

आकृष्ट हुआ। ससार का कौतूहल इस देश के विषय में दिन-दिन बढ़ता ही गया।

१८८१ में बाबू शरच्चन्द्र दास नामक एक बंगाली महाशय की भी तिब्बत में जाने की इच्छा हुई। उन्होंने बड़ी बुद्धिमानी से तिब्बत सरकार से एक 'पास' प्राप्त कर लिया और उसी साल अपनी यात्रा भी प्रारम्भ कर दी।

पहली यात्रा में दास महाशय को लासा तक पहुँचने का सुभीता न हुआ। वे तिब्बत के एक नगर में दो महीने तक रह कर वापस चले आये। जब भारत सरकार को इनकी यात्रा का हाल मालूम हुआ तब उसने इनसे दूसरी बार यात्रा करने का अनुरोध किया। शरत् बाबू ने इस बार भी तिब्बत सरकार को धोखा देकर उससे एक 'पास' प्राप्त कर लिया। इस यात्रा में आप लासा तक पहुँच गये। वहाँ आप बीस रोज तक बड़ी सावधानी के साथ रहे, यहाँ तक, कि आप शायद ही कभी दिन को बाहर निकले हों। इसके बाद आप तिब्बत के अन्यान्य भागों का अनुसन्धान कर के, करीब एक बरस बाद, दार्जिलिंग लौट आये। आपने सिक्किम देश के लामा के वेश में तिब्बत में प्रवेश किया था।

आप के लौट आने पर तिब्बत सरकार को आप की यात्रा का असली उद्देश्य मालूम हो गया। सारे देश में इस बात की जाँच होने लगी कि कौन कौन से मनुष्यों ने तिब्बत में आपकी सहायता की थी और आप को अपने मकान पर आश्रय दिया था। जिसके ऊपर सरकार का सन्देह हुआ वह कैद कर लिया गया और उसकी सारी जायदाद ज़ब्त कर ली गई। जिनका दोष अक्षम्य समझा गया उन्हें फाँसी की सजा दी गई। इसका एक उदाहरण लीजिये।

तिब्बत में सेंगचेन दो-रजेपन नाम के एक वृद्ध लामा थे। ये अपनी विद्वत्ता के लिए देश भर में विख्यात थे। लोग इन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे। शरच्चन्द्र ने कुछ काल तक आप ही से बौद्ध

मत की शिक्षा ग्रहण की थी। लामा के मित्र उनसे कहा करते थे.—
 “महाशय ! आप इस शरच्चन्द्र का साथ छोड़ दें, नहीं तो आपको भारी विपद् में फँसना पड़ेगा।” किन्तु आपका उत्तर सुन कर सभी चुप हो जाते थे। आप कहते थे.—“शरच्चन्द्र इस देश में चाहे धर्म पुस्तकों की चोरी करने आया हो, चाहे वह किसी राज्य का जामूस हो, इस से मुझे कोई मतलब नहीं। बौद्ध मत का प्रचार करना मेरा कर्तव्य है; और अपना कर्तव्य पालन करने में मुझे मौत की भी परवा नहीं।”

किन्तु जब तिब्बत सरकार को मालूम हुआ कि पूर्वोक्त लामा महाशय ने भी शरच्चन्द्र की सहायता की थी तब उसने आज्ञा दी कि जल में डुबो कर उनके प्राण ले लिये जायें !

कावागुची नामक जापानी तिब्बत यात्री ने, जिसके विषय में मुझे आगे बहुत कुछ लिखना है, इस हृदयविदारक दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है:—

“सरकार की कठोर आज्ञा सुन कर सेंगचेन महाशय को कुछ भी रंज न हुआ। नदी के किनारे एक चट्टान पर बैठ कर आप अपने प्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थ का पाठ करने लगे। कुछ देर बाद, जो लोग उन्हें जल में डुबोने के लिए वहाँ प्रस्तुत थे उनकी ओर देख कर आपने कहा:—इस पवित्र धर्म-ग्रन्थ का पाठ समाप्त कर लेने पर मैं तुमको अपनी तीन उँगलियों से इशारा करूँगा। इशारे के साथ ही तुम मुझे एक रस्ती से बाँध कर नदी में फेंक देना। मुझे मृत्यु से कुछ भी भय नहीं।

“यथासमय आप ने उन लोगों को इशारा किया; किन्तु व्यर्थ ! एक भी मनुष्य उनकी ओर न बढ़ा। तब आप ने कहा:—मेरा अन्तिम काल आ पहुँचा है। देर करने की जरूरत नहीं। सरकारी आज्ञा के अनुसार मुझे तुम शीघ्र ही जल में फेंक दो। मेरी मौत पर अफ़सोस करना व्यर्थ है। मेरी हार्दिक कामना यही है कि इस देश में बौद्धमत की उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहे।”

मैंगचेन के मर जाने पर उनके सारे अंग, तिब्बत-देश की प्राचीन प्रथा के अनुसार, शरीर से काट काट कर जल में फेंक दिये गये । इस पर कावागुची ने लिखा है —

“जब मैंने इस महापुरुष की मृत्यु-कथा पहले पहल दार्जिलिंग में सुनी तब मेरे शरीर पर रोमाञ्च हो आया—मेरा कलेजा काँप उठा, क्योंकि मैं भी तो उसी तिब्बत को जा रहा था । कौन कह सकता था कि मेरी भी यही दशा न होगी ?”

इन घटनाओं से तिब्बत सरकार और भी सजग हो गई । इस बात की सख्त ताकीद कर दी गई कि कोई भी विदेशी राज्य के भीतर न आने पावे । देश का द्वार बन्द रखने में ही तिब्बत सरकार ने अपना भला समझा । कावागुची ने लिखा है कि उन्हें अपनी यात्रा में कोई ऐसा गाँव या नगर न मिला जहाँ के लोग शरच्चन्द्र के तिब्बत में आने की बात न जानते थे । बच्चों तक को उनका नाम मालूम था ।*

कावागुची की यात्रा का वर्णन बहुत ही मनोरञ्जक और महत्त्वपूर्ण है । उनकी यात्रा विषयक पुस्तक—तिब्बत में तीन वर्ष—के नाम से छप कर प्रकाशित हुई है । आप का पूरा नाम है, यकाई कावागुची । आप जापानी हैं । बहुत दिन तक आपने काशी में संस्कृत भाषा का अध्ययन किया है । आपने अपने तिब्बत जानने का कारण इस प्रकार बताया है —

“मैं टोकियो नगर के एक प्रसिद्ध बौद्ध मठ का मुख्य पुजारी था । किन्तु १८९१ ईसवी में मैंने यह पद त्याग दिया और एक दूसरे स्थान में जाकर चीनी भाषा में छपे हुए अपने धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करने लगा । मेरी इच्छा हुई कि मैं इन पुस्तकों का अनुवाद जापानी भाषा में करूँ । किन्तु ऐसा करने के पहले मैंने संस्कृत तथा तिब्बती भाषा

* (कावागुची के बाद स्वीडन (Sweden) देश के वासी डाक्टर स्वेन हेडिन (Swen Hedin) ने भी काश्मीर से १९०६ ईस्वी में तिब्बत में प्रवेश किया था ।)

मे लिखे मूल ग्रन्थों से उनका मिलान करना नितान्त आवश्यक समझा । ये मूल ग्रन्थ नेपाल तथा तिब्बत ही मे प्राप्त हो सकते थे । पर तिब्बत जाना कठिन काम था । फिर भी मैं तिब्बत मे भ्रमण करने के लिए, १८९७ में, रवाना हुआ और तीन बरस तक वहाँ रह कर, १९०३ में, सकुशल अपने देश को लौट आया ।”

१८९७ की २५ जून को कावागुची जापान से रवाना हुए । २५ जुलाई को आप कलकत्ता पहुँचे । वहाँ की महाबोधि सोसायटी से आप को शरच्चन्द्र की यात्रा का हाल मालूम हुआ । कावागुची ने दार्जिलिंग जाकर शरत् बाबू से भेट की, उन्हें अपना अभिप्राय कह सुनाया । शरत् बाबू इन्हे देख कर बहुत प्रसन्न हुये । किन्तु उन्होंने इन्हे तिब्बत यात्रा करने की राय न दी । उन्होंने बहुत समझाया कि तिब्बती भाषा का अध्ययन कर के आप अपने देश को चले जाइए । किन्तु कावागुची को उनका विचार पसन्द न आया । आप ने दार्जिलिंग मे एक बरस तक रह कर वहाँ के बौद्ध लामाओ से तिब्बती भाषा पढी । उसमे आप निपुण हो गये । तब उन्होंने सोचा कि तिब्बत किस मार्ग से जाना चाहिए । कावागुची ने जान लिया था कि दार्जिलिंग से तिब्बत जाने का एक भी मार्ग उनके लिए खतरा से खाली नही । अन्त मे आप ने नेपाल मार्ग से जाना ही युक्तिसंगत समझा । पर इसमे भी एक कठिनता थी । दार्जिलिंग में बहुत से तिब्बती जान गये थे कि कावागुची उनके देश मे जाने की इच्छा से ही उनकी भाषा का अध्ययन कर रहे है । अतएव संभव था कि कोई तिब्बती धन पाने की इच्छा से तिब्बत सरकार को इस बात की खबर दे देता । इसी से कावागुची ने सर्वत्र प्रकट कर दिया कि वे अब सीधे अपने देश को लौट जायँगे; कुछ कारणों से उन्होंने तिब्बत जाने का विचार छोड दिया है । लोगों को उनकी इस बात पर विश्वास हो गया । कावागुची भी वहाँ से बिदा होकर कलकत्ते चले आये ।

कावागुची ने शरच्चन्द्र से असली बात कह दी थी । उनके वियोग से शरच्चन्द्र को बहुत दुःख हुआ । उन्होंने ईश्वर से प्रार्थना की

कि कावागुची की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो । कावागुची कलकत्ते में कुछ दिनों तक रह कर नेपाल के लिए रवाना हो गये । सगौली में आपकी भेट बुद्ध वज्र नाम के एक लामा से हुई । बुद्ध वज्र से आपने अपने को चीन देश का वासी बताया । वह इन्हें अपने मकान पर ले गये और इनका बहुत आदर-सत्कार किया ।

बुद्ध वज्र नेपाल के एक प्रसिद्ध बौद्ध मठ के लामा थे । इस मठ में प्रत्येक वर्ष हजारों लोग, जाड़े के दिनों में तिब्बत से तीर्थ-यात्रा करने आया करते हैं । इन यात्रियों में गरीब भिक्षुओं की संख्या अधिक रहती है । इन्हें देख कर कावागुची ने सोचा कि तिब्बत से आते समय ये लोग सरकारी फाटको या घाटियों पर कोई “पास” दिखाते हैं या नहीं । यदि दिखाते हैं तो अर्थहीन होने पर भी इन्हें लालची अफसरों से “पास” कैसे मिल जाते हैं क्योंकि घाटियों के राज कर्मचारियों की आँखों में धूल भोक कर निकल आना असंभव है । कावागुची ने इन भिक्षुओं को अपनाना शुरू किया । वे इन लोगों की कभी-कभी आर्थिक सहायता भी करने लगे । नतीजा यह हुआ कि कुछ दिन बाद इन भिक्षुओं ने उन्हें एक ऐसी राह बताई जो यात्रियों को नियमित फाटको या घाटियों पर लाये बिना ही तिब्बत के भीतर पहुँचा सकती है । यह राह काठमाँडू से उत्तर पश्चिम की ओर जाकर, लो-नामक नेपाली प्रान्त को पार करती हुई, मानसरोवर झील तक जाती है ।

इस पर कावागुची को बड़ी प्रसन्नता हुई । यात्रा का सारा सामान ठीक करके एक दिन कावागुची ने अपने मित्र बुद्धवज्र से कहा:—“महाशय ! मैं यहाँ से लासा और लासा से अपने देश चीन जाने का विचार करता हूँ । मुझे यहाँ से उत्तर-पूर्व की ओर जानेवाले मार्ग से लासा जाना चाहिये । किन्तु तिब्बत जाकर मानसरोवर झील और कैलाश पर्वत का दर्शन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ । अस्तु, मैं उत्तर पश्चिम की ओर जानेवाले मार्ग से ही जाऊँगा ।”

बुद्ध वज्र यह सुन कर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने तीन अन्य यात्रियों

को भी इनके साथ कर दिया। इन्हें कुछ दूर के लिए एक पथ-प्रदर्शक भी मिल गया। १८९९ के मार्च महीने में सब के सब काठमांडू से विदा हुए। कुछ दिनों बाद ये लोग पोखरा नामक नगर में पहुँचे। वहाँ से तुक्जे नगर को गये। कावागुची ने वहाँ पर अपने साथियों से विदा ली क्योंकि उनमें से किसी का भी स्वभाव इन्हें पसन्द न था। इसी स्थान में कावागुची की भेंट एक और लामा से हुई। वह इनका मित्र हो गया और इन्हें सारग प्रदेश में, जहाँ उसका घर था, बड़ी खुशी से ले गया।

कावागुची सारग प्रदेश में कोई एक बरस तक रह गये। वहाँ से आगे बढ़ना असंभव समझ कर उन्हें तुक्जे नगर के निकटवर्ती मलवा ग्राम तक पीछे लौटना पड़ा। सारग में कावागुची को बौद्ध-धर्म सम्बन्धी कितने ही हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हो चुके थे। उन सब को साथ लेकर वह १९०० की बारहवीं जून को मलवा से चल पड़े। वहाँ से आप को कालीगंगा नामक नदी के किनारे-किनारे चलना पड़ा। तीसरी जुलाई को आप धवलगिरि के उत्तरी भाग में पहुँचे। यही नेपाल राज्य की सीमा का अन्त हो गया और तिब्बत देश की सीमा का प्रारम्भ हुआ।

चौथी जुलाई को कावागुची को तिब्बत के भीतर एक निर्जन मैदान में, अकेले जाना पड़ा। भूख और प्यास से वह बैचैन हो गये। उनका सारा शरीर थकावट से चूर-चूर हो गया। फिर भी उन्होंने अपनी तकलीफों की कुछ भी परवाह की। वह उन्हें भूल-से गये। उन्होंने स्वयं लिखा है:—“मेरे हर्ष और मेरी आशा का आज कोई पारावार न था। मैंने अपनी गठरी अपनी पीठ से उतार कर एक चट्टान पर रख दी। मुझे भूख बड़े कड़ाके की लग रही थी। मैंने मक्खन, बर्फ और भुने हुए आटे का कुछ सम्मिश्रण तैयार किया। उसी को नमक तथा मिर्च के साथ बड़े आनन्द से मैं खाने लगा। उस समय मैंने सोचा कि स्वर्ग लोक के देवताओं को भी ऐसे स्वादिष्ट भोजन की प्राप्ति असंभव होगी।” अस्तु।

अगस्त में कावागुची मानसरोवर के पास पहुँचे। वहाँ आपको बहुत-से नेपाली ब्राह्मण मिले। ये लोग मानसरोवर में स्नान करने आये थे। मानसरोवर की परिधि कोई २०० मील है। वह समुद्रतल से करीब १५,५०० फीट ऊँचा है। वह एक अष्टकोणाकृति भील है। देखने में कमल पुष्प के समान जान पड़ती है। कावागुची की शिकायत है कि आज तक पाश्चात्य लोगों ने इसके जितने नकशे तैयार किये हैं उनमें एक भी ठीक नहीं।

मानसरोवर से कावागुची कैलाश पर्वत की ओर चले। वह इस भील से उत्तर-पश्चिम की ओर है।

“कैलाश पर्वत के उत्तरी भाग को तिब्बत की भाषा में कुबेर पुरी कहते हैं। प्राचीन काल में हिन्दू लोग इस स्थान से पूरी तरह परिचित थे। कालिदास ने भी मेघदूत में इसका अच्छा वर्णन किया है। इसके आसपास बौद्धमठों की संख्या बहुत अधिक है। इनमें से एक मठ में मैंने देखा कि सैकड़ों धर्मग्रन्थ, बुद्ध अमिताभ की मूर्ति के सामने रखे हुए हैं। किन्तु उनका उपयोग करना तो दूर रहा, पुजारी लोग उनकी कभी-कभी बड़ी ही दुर्दशा करते हैं।”

“कैलाश पर्वत के पास एक सुवर्ण उपत्यका है। इसका प्राकृतिक सौन्दर्य देखते ही बनता है। इसके चारों ओर विशाल पर्वत हैं। यहाँ के जलप्रपातों की शोभा देख कर मुझे बहुत आनन्द हुआ। ज़मीन पर बैठ कर उन्हीं की ओर मैं एकटक देखता रह गया। चैतन्य लाभ करने पर फिर आगे बढ़ा।”

२२ नवम्बर को कावागुची ब्रह्मपुत्र को पार कर के तिब्बत की तीसरी राजधानी ल्हाचें नगर में पहुँचे। तिब्बत की दूसरी राजधानी शिगात्से नगर भी यहाँ से कुछ ही दिनों का रास्ता रह गया था। रास्ते में कावागुची ने तिब्बत के प्रसिद्ध साध्य मठ का दर्शन किया। इस मठ का वर्णन करते हुये आप ने लिखा है:—“यहाँ के पुस्तकालय में बौद्ध-धर्म से सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही प्राचीन ग्रन्थ आज तक विद्यमान

हैं। इनमें से बहुत-से ग्रन्थ तो नीले कागज पर सुनहले अक्षरों में लिखे हुए हैं, और बहुत से संस्कृत भाषा में तालपत्रों पर।”

५ दिसम्बर को कावागुची शिगात्से नगर में पहुँचे। यहाँ ‘सुमेरु-गिरि’ नाम का एक बड़ा मन्दिर है। उसके मुख्य लामा की देश भर में बड़ी इज्जत है। कभी-कभी दलाई लामा के मर जाने पर आप ही को कुछ काल तक उनका पद ग्रहण करना पड़ता है।

१५ दिसम्बर को कावागुची इस स्थान से भी विदा हुए। बड़ी लम्बी यात्रा के बाद वह १९०१ की २१ मार्च को लासा पहुँचे।

कावागुची को अपनी यात्रा में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विकट पहाड़ी रास्ते से जाते समय कहीं आप नीचे गिरने से बच गये। कहीं जल के प्रबल वेग से वह जाने से दैव ने आपकी रक्षा की। कहीं निर्जन वन में आपको निर्दयी लुटेरों के दल का सामना करना पड़ा। कहीं बर्फ़िस्तानी मैदान में आपको सारी रात बितानी पड़ी। किन्तु दृढ़ निश्चय के सामने सभी बाधाएँ आप ही आप दूर हो गईं; और जिस उद्देश्य से कावागुची ने यह परिश्रम उठाया था वह अन्त में सफल हुआ।

लासा पहुँचने पर कावागुची वहाँ के सेरा मठ में रहने लगे। यह मठ तिब्बत का सब से प्रसिद्ध विद्यालय है। इसमें रहने वाले पुजारियों की संख्या करीब सात हजार है। इस देश में पुजारी दो प्रकार के हैं—विद्यार्थी और सैनिक। यहाँ की पूरी पढ़ाई २० बरस में समाप्त होती है। जो विद्यार्थी नये आते हैं उनकी परीक्षा पहले न्याय शास्त्र में की जाती है। पूछा जाता है:—क्यों, बुद्ध मनुष्य थे अथवा देवता? यदि देवता थे तो मृत्यु को क्यों प्राप्त हुए? यदि विद्यार्थी चतुर होता है तो उत्तर देता है—बुद्ध स्वयं अमर थे, किन्तु वे अपने मनुष्य शरीर से ही मृत्यु को प्राप्त हुए। यही नहीं, उसे यह भी कहना पड़ता है कि उनके तीन शरीर थे—धर्मकाय, सम्भोगकाय, और निर्माणकाय।

कावागुची ने अपने देश में आयुर्वेद का कुछ अध्ययन किया था।

यह सेरा मठ में रोगियों का इलाज भी करते थे। इससे लोगों में आपकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। खुद दलाई लामा ने उन्हें अपने प्रासाद में बुला कर उन से भेंट की। दूर-दूर से लोग उन्हें निमन्त्रण देकर अपने मकान पर बुलाने लगे। किसी-किसी ने तो आप को खास बुद्धदेव का अवतार मान लिया। बहुत-से सरकारी अफसरों से भी आपकी मित्रता हो गई। कुछ दिन बाद सेरा मठ को छोड़ कर आप दलाई लामा के एक मन्त्री के मकान पर रहने लगे। वहाँ तिब्बत के अर्थ-सचिव से भी आपकी जान पहिचान हो गई। इस प्रकार उन्हें उस देश के राजनैतिक विषयों को भी समझने का अच्छा मौका मिल गया।

तिब्बत से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी बातों का वर्णन कावागुची ने अपनी पुस्तक में अच्छी तरह किया है। आप लासा में १५ महीने तक रहे। इसी से आप वहाँ के लोगों के जातीय जीवन से भली-भाँति परिचित हो सके।

लासा में कई व्यापारी ऐसे थे जिन्होंने कावागुची को दार्जिलिंग में देखा था। वे जानते थे कि ये जापानी है; पर मित्र होने के कारण वे इस बात को कही प्रगट न करते थे। वक्सर विद्रोह के समय से जापान की कीर्ति तिब्बत में भी फैलने लगी थी। जापान एक बलाढ्य राज्य है; युद्ध में चीन को भी उससे हार माननी पड़ी। इस बात की चर्चा कही-कही बराबर सुनने में आती थी। कावागुची १९०१ के मार्च महीने में लासा आये थे। पर एक बरस से अधिक बीत जाने पर भी उनके चीनी होने में किसी को कुछ सन्देह न हुआ।

किन्तु ऐसी गोपनीय बात कब तक छिप सकती थी? कावागुची के किसी मित्र ने ही—इनका उपकार करने की इच्छा से—अन्त में दलाई लामा के ज्येष्ठ भ्राता से कह दिया कि ये चीनी नहीं जापानी है। कावागुची ने यह बात सुनी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वह जान गये कि उनको और उनके मित्रों को अब किसी भारी विपद् में फँसना पड़ेगा। उन्होंने मंत्री महाशय से यथार्थ बात कह दी। सारे परिवार में शोक छा

गया। लोगो को बड़ी चिन्ता हुई। दयार्द्र मन्त्री और उनकी स्त्री ने कावागुची को यही राय दी कि—आप इस नगर को शीघ्र ही छोड़ दे। शिगात्जे नगर के लामा के आने के उपलक्ष में इस समय खुशी मनाई जा रही है। लोगो का ध्यान कुछ दिनो तक आपके भागने की ओर आकृष्ट न होगा। हम लोगो की कोई चिन्ता आप मत कीजिये।”

बड़े दुःख और भय के साथ कावागुची, १९०२ ईसवी की २९ मई को लासा से विदा हुए। रास्ते में आपको पाँच सरकारी फाटक या घाटियाँ पार करनी पड़ी। किन्तु आप कहीं रोके टोके न गये। सरकारी अफसरों के लिए इतना ही जानना बस था कि यही महाशय सेरा मठ के प्रसिद्ध बौद्ध है। किसी खास मतलब से कलकत्ते जा रहे हैं। फिर वापन लौट आवेंगे।

कावागुची सकुशल दार्जिलिंग पहुँच गये। वहाँ वह बड़े आनन्द से रहने लगे। किन्तु उन्हें रात-दिन इस बात की चिन्ता बनी रहती थी कि उनके भागने के बाद तिब्बत सरकार ने उनके मित्रों की क्या दशा की। अन्त में अक्टूबर महीने में उन्हें मालूम हुआ कि उनके मित्रों की लासा में बड़ी दुर्दशा हो रही है। वे जेल में भूखो मर रहे हैं। उनकी प्रार्थना सुननेवाला कोई नहीं। मन्त्री महाशय, अर्थ सचिव, सेरा मठ के अध्यापक और आप से इलाज करानेवाले गरीबों पर भी आफत आई है। कावागुची को यह सब सुनकर बड़ा दुःख हुआ। किन्तु उन्होंने ऐसे समय में अपना धैर्य न छोड़ा। आप काठमंडू जाकर नेपाल महाराज से बड़ी नम्रता से मिले। उन से आपने सारा वृत्तान्त कह सुनाया। दलाई लामा के नाम से आपने एक पत्र लिखा। उसको नेपाल-नरेश के ही एक अफसर से उनके पास भिजवा दिया। इसके दो बरस बाद कावागुची को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपका पत्र पाने पर तिब्बत सरकार ने लोगों को कारागार से मुक्त कर दिया।

कावागुची को दार्जिलिंग से लासा तक कोई २५० मील पैदल

चलना पड़ा था। आज-कल आप दार्जिलिंग में ही हैं और कुछ तिब्बती ग्रन्थों का सम्पादन कर रहे हैं —

उसी शाक्यमुनि ने मेरा भी किया दुखों से त्राण।

मैंने उसकी आशा से था किया आत्म-विश्वास।

और उसी की दया दृष्टि से पूर्ण हुआ अभिलाष।

(२)

कावागुची ने अपनी यात्रा विषयक पुस्तक में तिब्बत की सामाजिक अवस्था का बहुत ही सच्चा चित्र खींचा है। आप उस देश में किसी गुप्त राजनैतिक विचार से नहीं गये थे। प्राचीन बौद्ध शास्त्रों का अध्ययन करना और यथासम्भव उनमें से कुछ अपने साथ ले आना ही आपका उद्देश्य था। इसी से आप ने वहाँ का भौगोलिक वर्णन बड़े विस्तार में नहीं किया। फिर भी प्रसंगवश जो कुछ लिखा है वह सभी उपयोगी है। कावागुची ने अपनी पुस्तक में जो कुछ लिखा है उसका सम्बन्ध कुछ काल पहले से है। वह आज का हाल नहीं। तिब्बत की दशा भी दिन-पर दिन बदलती जा रही है। जो तिब्बती दार्जिलिंग या सिक्किम के आस पास के स्थानों में आने रहने हैं उनपर भारत सरकार विशेष कृपादृष्टि रखती है। सरकारी स्कूलों में तिब्बती लड़कों को मुफ्त में अँग्रेजी की शिक्षा दी जाती है। होनहार लड़के सरकारी खर्च से अच्छे अच्छे विद्यालयों में भेज दिये जाते हैं[‡]। इधर चीन के राष्ट्र विप्लव का भी बहुत कुछ असर तिब्बत पर पड़ा है। पर इसमें सन्देह नहीं कि जिन बातों का उल्लेख नीचे किया जाता है वे आज भी ज्यों-की-त्यों हैं; क्योंकि उस देश के जातीय जीवन में अभी तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। हाँ लोगों की आँखें धीरे-धीरे खुल रही हैं; वे आगे कदम बढ़ाने जरूर लग गये हैं। देश के उत्थान के लिए अभी बरसों की जरूरत है। तथापि काम में हाथ लग चुका है।

[‡] पाठकों की स्मरण होगा कि गत वर्ष कुछ तिब्बती लड़कों को भारत सरकार ने पढ़ने के लिए विलायत भेजा था। —लेखक

आज-कल प्रायः सारे तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार है। जापान की तरह इस देश के लोग भी 'महायान' पन्थ के अनुगामी हैं। इनके दो सम्प्रदाय हैं—प्राचीन और नवीन। प्राचीन सम्प्रदाय के लोगो की समझ में मांस खाने और मद्य पीने में कोई दोष नहीं। सासारिक विषयो में लिप्त रहना ही निर्वाण प्राप्ति का द्वार है। आनन्दमय जीवन व्यतीत करने से ही मनुष्य बुद्धदेव का प्रीतिपात्र बन सकता है। अधिकांश तिब्बती इसी सम्प्रदाय के हैं।

ग्यारहवीं सदी में पान्दन अतीश नाम के किमी बौद्ध भिक्षुक ने नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की। वह भारत का रहनेवाला था। उसने इस बात पर जोर दिया कि धर्मचरण के लिए मन्यास ग्रहण बहुत जरूरी है। उस समय बहुत से लोगो को प्राचीन सम्प्रदाय से घृणा होने लगी थी, क्योंकि उनकी शिक्षाओं का समाज पर बुरा असर पहुंच रहा था। पहले तो उन्हें नवीन सम्प्रदाय में आने का साहस न हुआ; किन्तु कालक्रम से उन्होंने इसे अपनाना शुरू किया।

आश्चर्य की बात है कि तिब्बत में कहीं-कहीं मुसलमान भी पाये जाते हैं। इनमें से कुछ चीन से और कुछ काश्मीर से आकर यहाँ बस गये हैं। कावागुची ने लिखा है—

“लासा और शिगात्जे नगरो में इनकी मर्या करीब ३०० के हैं। ये लोग अपने धार्मिक विश्वासो में बड़े कट्टर हैं। लासा में इनकी दो मसजिदे हैं—एक चीनी मुसलमानों के लिए, दूसरी काश्मीरी मुसलमानों के लिए। इनके आचरण और विश्वास पर बौद्ध-धर्म का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है। तिब्बत में इस धर्म का अस्तित्व देखकर मुझे बड़ा कौतूहल हुआ।”

ईसाई पादरी भी तिब्बत में अपना धर्म फैलाने का बराबर प्रयत्न करते हैं। गरीब तिब्बती लोगो को धन का लोभ दिया जाता है। सैकड़ों तरह के सब्ज बाग दिखाये जाते हैं। बाइबिल के कितने ही अनुवाद तिब्बती भाषा में छप चुके हैं। पुस्तको में बौद्ध-धर्म की भरपूर निन्दा

की जा चुकी है। किन्तु, तो भी, तिब्बती लोगो को ईसाई धर्म में श्रद्धा नहीं। दार्जिलिंग में बहुत-से तिब्बती ऐसे हैं जो घर में तो बुद्धदेव की मूर्ति पूजते हैं; पर प्रत्येक रविवार को, रुपये के लोभ से, गिरजा-घरों में जाकर ईसा का गुणगान करते हैं।

बौद्ध धर्म फैलने के पहले तिब्बत में बोन-धर्म का प्रचार था। यह अब नाममात्र को रह गया है। इसमें और बौद्ध-धर्म में अब कोई विशेष भेद भी नहीं।

तिब्बत में बौद्ध-धर्म की अवस्था बहुत खराब है। यह अनेक दोषों में आच्छादित-सा हो गया है। नाम के लिए तो सभी बौद्ध हैं; पर महात्मा बुद्ध के उपदेशों का किसी को ख्याल भी नहीं। कावागुची ने कही-कही पर लोगो को इस प्रकार प्रार्थना करते हुए देखा था —

“हे दसो दिशाओ में रहनेवाले बुद्ध और बोधिसत्व ! मैंने भूत-काल में जो दुराचरण किये हैं उनके लिए आपसे क्षमा चाहता हूँ। नरहत्या, स्त्रीहरण, वैर-विरोध आदि एक भी पाप मुझ से नहीं बचा। मेरे दोषों पर ध्यान मत दीजिए। यही नहीं; मुझे तो यहाँ तक आशा है कि अगर मुझसे भविष्य में भी ऐसे ही दोष हो जायँगे तो आप मुझे क्षमा प्रदान करेंगे। मुझे अपने भूत तथा भविष्य के कर्मों के लिए पश्चात्ताप है। अतएव मैं प्रायश्चित्त करता हूँ !”

तिब्बत में शिक्षा का यथेष्ट प्रचार नहीं। बौद्ध मठों को छोड़ कर ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ लोगों को अच्छी शिक्षा दी जाती हो। सरकार की ओर से जो विद्यालय खुले हैं उनमें सर्वसाधारण को पढ़ने का अधिकार ही नहीं। खास-खास जाति के लोग ही उनमें शिक्षा पा सकते हैं। पढ़ना, लिखना और गिनना—इन्हीं तीन विषयों की शिक्षा लोगों को दी जाती है। पढ़ने से मतलब व्याकरण, अलकार और धर्मशास्त्र के अध्ययन से है। लोग अलकार शास्त्र के अध्ययन की ओर अधिक ध्यान देते हैं। दलाई लामा को जो पत्र लिखे जाते हैं उनकी भाषा बड़ी ही

किल्लट होती है। विद्वानों को अपने पत्रों में शब्दाडम्बर दिखाने का बड़ा शौक है। लेखक जितनी ही कठिन भाषा लिख सके उतनी ही उसकी कदर होती है। लिखना सीखने के लिए तो लोगों को और भी अधिक परिश्रम करना पड़ता है। बच्चों को गिनना, पत्थर या लकड़ी के टुकड़ों की सहायता से, सिखाया जाता है।

कावागुची ने एक जगह लिखा है—“यहाँ के विद्यार्थियों की स्मरण-शक्ति बहुत अच्छी है। १५ बरस के बालक को साल भर में ३०० से लेकर ५०० पृष्ठ तक मुखस्थ करने पड़ते हैं। इसमें भी आफत यह है कि उन्हें कभी ग्रन्थों से भेट नहीं होती। गुरु की मौखिक शिक्षा ही पर उन्हें अवलम्बन करना पड़ता है।”

तिब्बत के कई एक विद्यालयों में बहुत-से लोग मंगोल देश के भी पाये जाते हैं। ये बड़े परिश्रमी होते हैं। पढ़ने-लिखने में तिब्बती लोग इनकी बराबरी नहीं कर सकते क्योंकि वे बड़े आलसी होते हैं। उनके शान्त, मिलनसार और तेज होने में कोई सन्देह नहीं; पर वे परिश्रम करना बहुत कम पसन्द करते हैं। इन दोनों के सिवा एक तीसरे प्रकार के विद्यार्थी भी इस देश में पाये जाते हैं। ये खाम प्रान्त के निवासी हैं। पढ़ने लिखने में ये सब से पीछे हैं; पर शारीरिक परिश्रम में इनका नम्बर सब से बड़ा-चढ़ा है। इनका स्वभाव बहुत अच्छा होता है। चाप-लूमी करना ये जानते ही नहीं।

बीस बरस में विद्यालय की पढ़ाई समाप्त करने पर विद्यार्थी को आचार्य की उपाधि मिलती है। उस दिन वह समझता है कि उसके जीवन का उद्देश्य सफल हो गया। ज्ञानप्राप्ति की इच्छा से तिब्बत में शायद ही कोई विद्यार्थी पढ़ता-लिखता हो। समाज में प्रतिष्ठा पाना और खूब धन कमाना ही लोग वहाँ विद्याध्ययन का असली मतलब समझते हैं। आचार्य की उपाधि पाने पर विद्यार्थी को अपने शिक्षकों को एक भोज देना पड़ता है। यदि विद्यार्थी गरीब हुआ तो उसे उस समय सूद पर रुपया कर्ज देनेवाले भी मिल जाते हैं क्योंकि आचार्य

हो जाने पर लोगो को कर्ज अदा करने में कोई विशेष कठिनता नहीं होती।

तिब्बत में मर्दों और औरतों की पोशाक में विशेष अन्तर नहीं। हाँ, औरतों की पोशाक कुछ सुन्दर और भडकीली अवश्य होती है। वे गले में कीमती पत्थरो से जडा हुआ एक हार पहनती हैं। उनके दोनों हाथों में दो ककण होते हैं। उनमें से एक शख और दूसरा चाँदी का होता है। कानों में सुनहले वाले पहनने का भी रिवाज है। लासा में रहने वाली प्रायः सभी स्त्रियाँ ऊनी अँगरखे काम में लाती हैं। चाँदी की अँगूठियों का व्यवहार तो एक सामान्य बात है। औरतों के जूते भी देखने में बड़े अच्छे जान पड़ते हैं।

सब प्रकार से सज-धज कर औरतें कभी कभी अपने मुँह लाल रंग से रँग लेती हैं। उनका विश्वास है कि इससे उनकी शोभा दुगुनी हो जाती है। तिब्बती औरतें बहुत खूबसूरत नहीं होती। देखने में वे जापानी औरतों के समान होती हैं।

तिब्बती औरतों का स्वभाव अच्छा नहीं होता। उन्हें क्रोध बहुत जल्द आ जाता है। उनमें गम्भीरता लेशमात्र को भी नहीं रहती। शराब पीना उनकी बहुत बुरी आदत है। सफाई की ओर वे कुछ भी ध्यान नहीं देती। मुँह-हाथ छोड़ कर और अगो को वे नहीं धोती।

काम काज में तिब्बती औरतें बड़ी चतुर होती हैं। मध्यम श्रेणी की औरतें रोज़गार करना अपना पहला कर्तव्य समझती हैं। वे खेती करती हैं और पशु पालती हैं। दूध से मक्खन निकालना उनका दैनिक काम है। पर, बड़े घरों की औरतें सुख-चैन में अपना समय बिताती हैं। कपड़ा इत्यादि सीना वहाँ पुरुष का काम समझा जाता है।

तिब्बत में औरतें मर्दों से भी बड़कर स्वाधीन हैं। उनकी आज्ञायें पुरुषों के लिए शिरोधार्य हैं। दोष होने पर मनुष्य को अपनी पत्नी से माफी माँगनी पड़ती है। सौ में एक ही स्त्री पतिव्रता होती है। इसका

सब से बड़ा कारण यह है कि तिब्बत में बहुपुरुष विवाह की प्रथा जारी है। ये विवाह तीन प्रकार के होते हैं —

(१) कई भाई मिल कर एक साथ एक ही औरत से विवाह कर लेते हैं।

(२) दो या अधिक आदमी मिल कर एक ही स्त्री को अपनी पत्नी बना लेते हैं।

(३) किसी मनुष्य की पत्नी अपने पति की सलाह से किसी दूसरे आदमी के साथ शादी कर लेती है।

नतीजा यह है कि तिब्बत में स्त्री किसी की भी परवा नहीं करती। वैमनस्य होने पर वह एक को छोड़ कर दूसरा पति चुन लेती है। पति भी जब चाहे पत्नी को अपने घर से निकाल सकता है। तिब्बत में बहुत कम विधवाये नजर आती हैं। पति के मर जाने पर स्त्री बिना कुछ शोक प्रकट किये पुनर्विवाह कर लेती है।

जन्म के दिन बच्चे के शरीर पर मक्खन का लेप किया जाता है। जन्म के प्रायः तीन दिन बाद बच्चे का नामकरण मस्कार होता है। उस दिन ज्योतिषी बुलवाया जाता है। वही शुभ मुहूर्त में बच्चे का नाम रखता है। जन्म दिन के अनुसार ही बच्चे का नाम रखा जाता है। अर्थात् यदि बच्चा रविवार को पैदा हुआ तो उसका नाम रखा जाता है “न्यीमा” (सूर्य)। परन्तु ऐसा नाम रखने से पीछे बहुत गड़-बड़ होने की सम्भावना रहती है। इसलिए प्रत्येक बच्चे का एक उपनाम भी अवश्य रखा जाता है।

पुजारी बनने पर लोग एक अन्य नाम ग्रहण करते हैं।

जिस दिन बच्चे का नामकरण होता है उस दिन घर में बड़ा उत्सव होता है। सम्बन्धियों को भोज दिया जाता है। बच्चे के माँ-बाप के लिए दूर-दूर से सौगाते आती हैं। लोग उनके घर पर खुशी मनाने के लिए एकत्र होते हैं।

आठवें वर्ष में लड़का पढ़ना लिखना शुरू करता है। उस दिन

भी घर पर बड़ी तैयारियाँ होती हैं। बहुत-से लोग निमन्त्रित किये जाते हैं। यदि बौद्ध मठ दूर हुआ तो बालक अपने आत्मीय जनो से विदा माँग कर गुरु के यहाँ चला जाता है। वहाँ अपनी पढाई समाप्त करके बहुत दिनों के बाद घर लौटता है।

जितने मस्कार लडको के होते हैं उतने लड़कियों के नहीं होते।

तिब्बती लोग बहुत मैले-कुचैले होते हैं। वे अपने शरीर धोते ही नहीं। बहुत लोग तो आमरण एक बार भी अपना बदन साफ नहीं करते। गाँवों में बहुधा लोगों को इस बात का अभिमान होता है कि उन्होंने कभी जल से स्नान नहीं किया। पुजारियों और लामाओं में इनकी विशेषता होती है कि वे अपने मुह और हाथ, समय-समय पर साफ किया करते हैं। तिब्बत के लोगों का ख्याल है कि स्नान करने में मनुष्य का सारा सुख उसके शरीर से धुल कर निकल जाता है। विवाह के समय स्त्री की जाति पॉति और धन दौलत के सिवा यह भी देखा जाता है कि उसके शरीर पर कितना मैल जमा हुआ है। यदि उसके हाथ-पैर कुछ साफ मुथरे होते हैं तो वह भाग्यहीन समझी जाती है। कहा जाता है कि उसका सब सुख उसके बदन के मैल के साथ जाना रहा।

छोटे दर्जों के लोग कभी अपने कपड़े नहीं बदलते। उनके साथ बैठ कर खाने से विदेशियों को घृणा होती है। और लोगों की अपेक्षा पुजारी और लामा लोग ही कुछ सफाई के नियमों का पालन करते हैं। तिथि, लग्न इत्यादि देखने के लिए तिब्बत में लोग पंचांग काम में लाते हैं। यह पंचांग भारतीय या चीनी ढंग का नहीं, किन्तु तुर्किस्तानी ढंग का होता है। विदेशियों को यह पंचांग देख कर बहुत आश्चर्य हो सकता है क्योंकि इसमें कभी एक ही दिन सप्ताह में दो बार लिखा जाता है, और कभी नवमी तिथि के बाद दशमी नहीं, किन्तु एकादशी का उल्लेख रहता है। जो दिन शुभ माना जाता है वह एक ही हफ्ते में दो दफे

लिखा जाता है। जो अशुभ माना जाता है उसका पचांग में नाम तक नहीं दिया जाता।

पचांग बनाने का काम हर साल चार सरकारी अफसरो को सुपुर्द किया जाता है। किसी विषय पर मतभेद होने पर निर्णय का काम पंडित से लिया जाता है। जो पंडित जी कह देते हैं वही मानना पड़ता है।

इस प्रकार के पंडित तिब्बत में गाँव-गाँव पाये जाते हैं। यही वहाँ के भविष्यद्वक्ता हैं। बिना इनकी राय लिये कोई भी काम नहीं किया जाता। दलाई लामा के दरबार में भी इनका बड़ा सम्मान है। यदि कोई मंत्री गुरुतर अपराध करता है तो ऐसे ही किसी पंडित से उसका प्रायश्चित्त पूछा जाता है। पूछा जाता है कि उसको क्या सजा मिलनी चाहिए। यदि मंत्री ने पहले ही से उस पंडित का हाथ गरम कर दिया तो वह उत्तर देता है:—इसको दण्ड मत दो। ऐसा करने से देश के ऊपर आफत आने का डर है।

तिब्बत में गरमी के दिनों में ओले बहुत गिरते हैं।* इससे चने की फसल को बहुत नुकसान पहुँचता है। ओलों से फसल की रक्षा करने के लिए प्रत्येक गांव में एक पुजारी होता है। जाड़े के दिनों में वह ढेर-ढेर मिट्टी की गोलियाँ बनाता है। उन सब को वह मंत्रों से पवित्र करके किसी पहाड़ी या ऊँची जमीन पर, एक मन्दिर में रखता जाता है। ग्रीष्मकाल आते ही पुजारी उस मन्दिर में जाकर रहने लगता है और दिन-रात पूजा अनुष्ठान किया करता है। जब आकाश में घों से आच्छन्न हो जाता है और वर्षा होने की सम्भावना होती है तब पुजारी मन्दिर के बाहर निकल आता है और बादलों को भगाने की इच्छा से क्रोधपूर्वक उस पहाड़ से लड़ने का भाव दिखाता है। यदि बादल इस पर भी छिन्न-भिन्न नहीं होते और ओले गिरने लगते हैं तो पुजारी क्रोध से पागल हो जाता है। चारों ओर नाचता है, और चिल्लाता है। यदि

* तिब्बत में ऋतुएँ दो होती हैं:—शीत और ग्रीष्म। --लेखक

ओलो का गिरना तब भी बन्द न हुआ तो उसकी क्रोधाग्नि और भी प्रदीप्त हो उठती है। तब वह उन्ही मिट्टी की गोलियों को लेकर बड़े जोर से आकाश की ओर फेकता है और अपने कपड़ों को टुकड़े-टुकड़े कर डालता है। यदि ओलो का गिरना बन्द हो गया तो उसे बड़ी खुशी होती है। लोग उसे बधाई देने आते हैं और अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यदि ओले बराबर गिरते रहे तो पुजारी को जुर्माना भी देना पड़ता है। जिस साल ओले नहीं गिरते, या उनके गिरने से फसल की बहुत हानि नहीं होती, उस साल सब लोग उस पुजारी को, राजाज्ञा के अनुसार, "टैक्स" भी देते हैं।

(सरस्वती, मार्च १९१४ में 'वज्रपाणि' के नाम से)



पादरी नोल्स की रोमन लिपि

अंग्रेजी भाषा में “Procrustean Bed” की कहावत मशहूर है। प्रोक्रस्टेस प्राचीन ग्रीस का एक प्रसिद्ध डाकू था। वह अपने चंगुल में फँसे हुए लोगों को मार डालने की नीयत से उन्हें एक लोहे के पलंग पर जबर्दस्ती मुला देता था। अगर उनके पैर उस पलंग से कुछ बड़े हुए तो उन्हें काट-छाट कर उसके बराबर कर देता, और जो कुछ छोटे हुए तो उन्हें पकड़ कर खूब जोर से खींचता कि वे और फैल जायें। विलायत के पादरी नोल्स भी भारतीय भाषाओं पर ऐसा ही अत्याचार करता चाहते हैं। श्यामाचरण गांगुली जैसे दो एक गुमराह विद्वानों को छोड़कर आज तक इस देश में कोई भी उनकी ईजाद की हुई सशोधित रोमन लिपि का पक्षपाती न बना। यहाँ की पत्र पत्रिकाओं में और सब से अच्छी तरह ‘सरस्वती’ में ही उसकी अनुपयोगिता युक्तियुक्त प्रमाणों में कई बार सिद्ध कर दी गई। फिर भी-वे अपने हठ और दुराग्रह के कारण इन बातों पर ध्यान नहीं देते।

अभी कुछ महीने हुए कलकत्ते के चौरंगी अखबार में उनका एक पत्र निकला था। उसमें उन्होंने अधिकार में भटकते हुए भारतवासियों को यह सदेश भेजा था कि इस देश में लिपियों की अत्यधिकता और उनकी वर्णमालाओं की अपूर्णता ही शिक्षा-स्तुति के मार्ग में प्रबल प्रतिरोध का काम कर रही है। चूँकि पादरी महोदय यह अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी निकम्मी लिपि के लेप को प्रत्येक भारतीय भाषा अपने लिए विष तुल्य समझेंगी वे विज्ञापनबाजों की भाषा में बराबर यह कहते आ रहे हैं कि उनकी लिपि ही हमारे निरक्षरता रोग की रामबाण औषधि है। अतएव, लोग भय और सकोच त्याग कर उसे खुशी से ग्रहण कर ले।

सच तो यह है कि अगर उनकी दवायें उनके बताये हुए गुणों का अर्द्धांश भी होती तो भी हम उनसे यही प्रार्थना करते कि—वैद्यवर ! पहले आप अपनी चिकित्सा कीजिये । आप अपने मुधासिन्धु की दो बूँदें अपनी उस रुग्ण मातृभाषा को दे दीजिये जो एक सांघातिक लिपि के फेर में पड़कर सदियों से त्राहि-त्राहि पुकार रही है । पर हमें तो उनकी दवा पर जरा भी विश्वास नहीं और न हम उनके निदान को ही सही मानते हैं । अंगरेजी की वर्णमाला कितनी अपूर्ण है—उसके शब्दों के उच्चारण और उनकी लिखावट में कितना अन्तर है—फिर भी इस समय इंग्लैण्ड में और अमेरिका में भी निरक्षर मनुष्यों की सख्या नहीं के बराबर है । रह गई एक देश में अनेक लिपियों की बात, सो अगर भारतवासी सामान्य लिपि का स्थान प्रदान कर सकते हैं तो उसी देवनागरी को जिसके लिए उनके हृदय में श्रद्धा और प्रेम है, न कि उस रोमन लिपि को जो विदेशी होने के कारण वास्तव में हमारी घृणा का पात्र है ।

इंडियन रिव्यू (Indian Review) की किसी पिछली सख्या में रोमन-लिपि के दो पक्षपातियों के लेख पढ़ने को मिले । एक किसी अंगरेज सज्जन का और दूसरा किसी बंगाली महाशय का । बंगाली बाबू लिखते हैं कि देवनागरी के अक्षर रोमन लिपि के अक्षरों से कहीं ज्यादा स्थान ग्रहण कर लेते हैं । लाखों-करोड़ों का अपव्यय चाहे राजा-प्रजा की ओर से इस देश में रोज ही हुआ करे, पर अपनी जातीय लिपि की बदौलत—हम मान लेते हैं कि उनकी समालोचना में कुछ तत्व है—४ रीम कागज की जगह ४½ रीम मत खर्च होने पावे । और जो यह खर्च अनिवार्य जान पड़े तो भट उस लिपि का बहिष्कार कर दिया जाय । डाक्टर आनन्दकुमार स्वामी अभी तक इसी बात का रोना रोते थे कि सस्ते रेकार्डों के आगे गवैयों के गुण-ग्राहक इस देश में दिन-ब-दिन कम होते जा रहे हैं—मालूम नहीं इस नये परिमित व्ययवादियों के प्रलाप से उनकी भारतीय आत्मा को कितना

दुख पहुँचेगा। अंगरेज महाशय ने अपने लेख में देवनागरी वर्णमाला की त्रुटियों का उल्लेख किया है। उनसे हम साफ शब्दों में यही कहना चाहते हैं कि आपकी तरह हम भी जानते हैं कि हमारी वर्णमाला दूसरी भाषाओं की कुछ ध्वनियों को व्यक्त करने में असमर्थ है और हम उसकी परिपुष्टि के उपाय बरसों से सोचते आ रहे हैं। पर आप यह जान रखें कि यदि हमारे प्रयत्न निष्फल हुए, अपनी वर्णमाला के स्वाभाविक सगठन के कारण हम उसका मनमाना सशोधन न कर सकें, तो भी हम हर्गिज उसका परित्याग न करेंगे और आपके निर्दिष्ट पथ का अवलंबन न करेंगे—चाहे वह कितना ही सुगम, परिष्कृत या वैज्ञानिक क्यों न हो। आपके ही एक स्वदेशी कवि ने कहा था—

‘इगलैण्ड ! तू हमको प्यारा होवे तुझ में दोष हजार।’

और हम देवनागरी प्रेमी भी उसी के सुर में सुर मिलाकर आपसे कहना चाहते हैं कि:—

‘अपनी लिपि हमको प्यारी—हो उसमें त्रुटियों की भरमार।’ पर इस लेख द्वारा मैं पादरी नोल्स के तरफदारों का ध्यान लंदन के ईस्ट इंडिया एसोसियेशन की १७ मई १९२० की कार्यवाहियों की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ। हम पर देवनागरी के लिए अनुचित प्रेम का दोषारोपण वे भले ही कर सकते हैं, पर नोल्स महाशय के देशवासियों से—खासकर उनसे, जो और बातों में हमारी आकांक्षाओं के कट्टर विरोधी हैं—यह आशा कब की जा सकती है कि वे जानबूझ कर देवनागरी के दोषों को छिपाने की चेष्टा करेंगे। या वे यह कहेंगे कि दोषों की खान होने पर भी किसी भी भारतीय लिपि का बहिष्कार उसकी उन्नति के लिए श्रेयस्कर नहीं?

उस तारीख को इस सभा में किसी पेंशनयाफ्ता सिविलियन ने तामिल भाषाओं की कहावतों पर एक लेख पढ़ा। लेख में जो कहावतें उद्धृत की गई थी वे सब रोमन लिपि में लिखी हुई थीं। सर जे० डी० रीज पहले मद्रास प्रान्त में सिविलियन थे, और तामिल भाषा के

वह एक बड़े विद्वान् माने जाते हैं। अतएव वह लेख उनके पास उनकी सम्मति के लिए भेजा गया। पर बड़ी हँसी की बात है कि उद्धृत कहावतो में से एक का भी अर्थ रीज महोदय की समझ में नहीं आया, या यों कहिए कि वे उन्हें पढ़ ही न सके और उनका दावा है कि मैं तामिल उतनी ही अच्छी तरह बोल सकता हूँ जितनी कि अंग्रेजी। इसलिए उन्होंने सभा को लेख के सम्बन्ध में वक्तृता देते हुए रोमन लिपि के पक्षपातियों के दुस्साहस की जो कड़ी समालोचना की उसका भावार्थ नीचे दिया जाता है :—

“भैस के आगे बीन बजाने से क्या लाभ? और जिस मनुष्य को भाषाओं से प्रेम नहीं—जो उनके व्यक्तित्व, उनके सौष्ठव और उनकी बारीकियों का न तो ज्ञान रखता है और न उनका आदर करता है—वह यदि पूर्वीय भाषाओं के सुन्दर अक्षरों का विनाश करके, उनके स्थान पर रोमन अक्षरों की सहायता से बनी हुई किसी घृणित लिपि का प्रचार करना चाहे तो आश्चर्य ही क्या?

अरबी लिपि मुसलमानों के लिए पवित्र है, और देवनागरी हिन्दुओं के लिए। तामिल लिपि के संबंध में तामिलों का भी यही भाव है। अतएव उर्दू या फारसी, हिन्दी या संस्कृत या तामिल भाषा अपनी ही लिपि में लिखी जाय—उसको सात समुद्र पार का परिधान पहनाने की चेष्टा कोई मत करे। कम-से-कम मैं आशा करता हूँ, मुझे यह दृश्य देखने का फिर कोई दूसरा मौका न मिलेगा। सच तो यह है कि जब रोमन लिपि के अक्षरों को तोड़ मरोड़ कर उनके नीचे रेखाओं और उनके ऊपर बिन्दुओं की भरमार करके—जब उनसे किसी भी भारतीय भाषा को व्यक्त करने का काम लिया जाता है तब वे ऐसे ही भद्दे और वाहियात जान पड़ते हैं जैसे दस्तानों की जगह पर मोजे या टोपियों की जगह पर जूतियाँ।

मिस्टर स्टैनली राइस ने रीज महोदय से सहमत होते हुए कहा :—

“किसी भी भारतीय भाषा को रोमन लिपि में लिखने से उसकी सुन्दरता और उसकी खूबियाँ बिल्कुल नष्ट हो जाती हैं।”

इस अवसर पर सभापति थे सर लर्वे ऐडमसन, के० सी० एस० आई०। उन्होंने भी अपने संभाषण में रीज महोदय के विचारों का समर्थन किया। अपने अनुभव को सुनाते हुए वह बोले.—

“मैं सर जान रीज से इस बात पर पूरा सहमत हूँ कि भारत की भाषाएँ हमेशा अपनी ही लिपियों में लिखी जाय। मैं बर्मा की भाषा का काफी अच्छा ज्ञान रखता हूँ, पर मुझे मालूम है कि जब कभी वह रोमन लिपि में लिखी जाती है तब उसे पढ़ना असंभव हो जाता है।”

जिन महाशय ने लेख पढ़ा था उन्होंने भी इन वक्ताओं के कथन की सत्यता को स्वीकार कर लिया। क्या पादरी नोल्स से भी हम ऐसी ही आशा कर सकते हैं? पर वह तो शायद उस वितंडावादी के समान है जिसके सबध में गोल्ड स्मिथ कवि ने कहा था कि यह—

यद्यपि जाता तर्क युद्ध में कई बार लोगों से हार।

बहुस छोड़ता नहीं, न करता कभी पराजय को स्वीकार।

(‘सरस्वती’, अक्टूबर, १९२०)

एक बंदरिया की विचित्र शक्ति

बगला के मासिक पत्र “भारतवर्ष” में एक बंदरिया के विषय में बाबू अविनाशचन्द्र दास ने एक बड़ा ही कोतुककारी लेख निकाला है। उसी का आशय नीचे दिया जाता है।

चाणक्य ने कहा है कि सत्य होने पर भी जो बात दूसरो को असम्भव जान पड़े उसे किसी से कहना उचित नहीं। आजकल तर्क, युक्ति और विश्वास का जमाना है। कोई असाधारण बात कान में पड़ते ही समाज उसकी हँसी उड़ाने लगता है। लोगो को उसकी सचाई पर विश्वास नहीं होता, वे उसे असम्भव कह बैठते हैं।

पर, जो बात एक की समझ में असम्भव है, वही दूसरे की समझ में संभव हो सकती है क्योंकि ससार में प्रत्येक मनुष्य का ज्ञान एक सा नहीं होता, और ऐसी हालत में, जो बात असाधारण है—जो हम लोगो के ज्ञान, बुद्धि और स्कार की सकीर्ण सीमा के बाहर है—उसे असंभव कहने का हमें कोई अधिकार नहीं।

मैं नीचे जिस प्रत्यक्ष घटना का उल्लेख करूँगा उसे बहुत से लोग असंभव कह सकते हैं। पर वह सच्ची घटना है—काल्पनिक नहीं। उसका कारण विद्वानों के अनुसंधान करने लायक है। मैं इस सबंध में कुछ न जानने के कारण कुछ भी नहीं लिख सकता।

इस घटना का वर्णन करने के पहले मैं मनुष्येतर प्राणियों के ज्ञान और बुद्धिमत्ता के विषय में कुछ कहना चाहता हूँ। पशुओं में बन्दर, कुत्ते, घोड़े इत्यादि और पक्षियों में काक, शुक इत्यादि बुद्धिमान समझे जाते हैं। बन्दर शारीरिक गठन में ही नहीं, बल्कि बुद्धि में भी मनुष्य की कुछ-कुछ समता कर सकता है। इसके सिवा बहुत-से पशु-पक्षियों में भविष्य के सबन्ध में भी ज्ञान पाया जाता है। यह उन लोगों का

तीन बार डुग्गी बजने का अभिप्राय यही है कि अन्त में आपकी जीत अवश्य होगी।”

कहने की जरूरत नहीं, मैंने अपने मुकदमे ही के विषय में प्रश्न किया था। तीसरे दिन उसकी पेशी थी। लेकिन रंग ढग से मुझे जान पड़ता था कि तीन दिन बाद तो नहीं, शायद तीन महीने बाद उसका फैसला सुना दिया जाय।

तब मैंने अपने मन में एक और प्रश्न किया। बंदरिया ने सुफल वाली सुपारी मेरे हाथ पर रख दी। मैंने पूछा—“मेरा प्रश्न किस विषय का था?” बंदरिया अपने हाथों से अपना बदन खुजलाने लगी। फकीर ने कहा—“आपने अपने शरीर के सम्बन्ध में प्रश्न किया है।” मैंने कहा—“पर, शरीर के संबंध में कैसा प्रश्न?”

इस पर बंदरिया जमीन पर लेट गई। मेरे शरीर के जिस भाग में वेदना थी, अपने शरीर के ठीक उसी भाग को वह दिखाने लगी। मैं अवाक् हो गया। मेरे शरीर के ठीक उसी भाग में दर्द था। पर यह बात मेरे घर के भी बहुत से लोग न जानते थे। बंदरिया इसे कैसे जान गई?

मैंने पूछा—“यह रोग कैसे मिटेगा?”

बंदरिया अपना दाहना हाथ अपने बायें कंधे पर ले गई। फिर अपनी छाती के ऊपर उसने एक चिन्ह सा बनाया। तदनन्तर जरा-सी मिट्टी लेकर वह खा गई। इसके बाद दोनों हाथों से एक गोले पदार्थ का संकेत करके उस पर जल डालने का अभिनय किया। अंत में चिल्ल का इशारा करके उसको अपने मुख से स्पर्श किया।

फकीर कहने लगा—“किसी ब्राह्मण की पद-रज पाने और शिव के ऊपर चढ़ाया हुआ जल पीने से आपका रोग दूर हो जायगा, अन्यथा नहीं।”

तब मैंने मन-ही-मन तीसरा प्रश्न किया। इस दफे भी मुझको सुफल वाली ही सुपारी देकर बंदरिया मेरे घर की ओर देखने लगी।

फकीर ने कहा—“जान पड़ता है कि आप एक नया घर बनाना चाहते हैं। यह कहती है, घर बन तो जायगा पर कुछ समय लगेगा।”

उत्तर सुन कर मैं बहुत विस्मित हुआ। मैंने इसी विषय में प्रश्न किया था। इस तरह के मानसिक प्रश्न करना छोड़कर अब मैंने उस बानरी से पूछा—“मेरे बाल बच्चे कितने हैं?”

बैदरिया ने एक एक करके पांच सुपारियाँ जमीन पर रख दी। और एक छोटी सी लड़की को जाकर स्पर्श किया। तब उसने एक सुपारी और रखी और एक छोटे से लड़के के पास जाकर उसके बदन को छू दिया।

फकीर के कहने के पहले ही मैं इस इशारे का मतलब समझ गया था। मेरे पांच कन्याये और एक पुत्र है, यही बन्दरिया ने बताया।

मैंने फिर पूछा—“क्या मेरे एक ही पुत्र है?” यह सुनकर बंदरिया मानो मेरा तिरस्कार करने के लिए किम् किम् शब्द करती हुई मेरे पास आई। उसने दो सुपारियाँ जमीन पर रख दी। फिर उनमें से एक को उठाकर वह आखे बन्द करके जमीन पर सो गयी।

यह दृश्य देखकर पास बैठी हुई स्त्रियो के दिल पर बहुत चोट लगी। मैं पछताने लगा। हाय! मैंने क्यों ऐसा प्रश्न किया था? कई वर्ष पहले मेरे जेष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हो चुका था, यही उस बंदरिया का अभिप्राय था। इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ।

मेरी दासी ने पूछा—“क्या बाबू की सारी कन्यायें यही हैं?”

बंदरिया ने इसका कोई उत्तर न दिया। पर, जब मैंने भी यह प्रश्न किया तब उसने तीन सुपारियाँ जमीन पर रखकर कपड़े के टुकड़े से अपने मुह को ढक लिया।

बंदरिया का कहना ठीक था कि मेरी तीन कन्यायें उस समय बधू रूप से अपने-अपने घर थीं। मैंने पूछा—“मेरी जो दो कन्यायें यहाँ उपस्थित हैं, क्या उनको दिखा सकती हो? छः बरस की संतोषवाला

तीन बार डुग्गी बजने का अभिप्राय यही है कि अन्त में आपकी जीत अवश्य होगी।”

कहने की जरूरत नहीं, मैंने अपने मुकदमे ही के विषय में प्रश्न किया था। तीसरे दिन उसकी पेशी थी। लेकिन रंग ढंग से मुझे जान पड़ता था कि तीन दिन बाद तो नहीं, शायद तीन महीने बाद उसका फैसला सुना दिया जाय।

तब मैंने अपने मन में एक और प्रश्न किया। बंदरिया ने सुफल वाली सुपारी मेरे हाथ पर रख दी। मैंने पूछा—“मेरा प्रश्न किस विषय का था?” बंदरिया अपने हाथों से अपना बदन खुजलाने लगी। फकीर ने कहा—“आपने अपने शरीर के सम्बन्ध में प्रश्न किया है।” मैंने कहा—“पर, शरीर के संबंध में कैसा प्रश्न?”

इस पर बंदरिया जमीन पर लेट गई। मेरे शरीर के जिस भाग में वेदना थी, अपने शरीर के ठीक उसी भाग को वह दिखाने लगी। मैं अवाक् हो गया। मेरे शरीर के ठीक उसी भाग में दर्द था। पर यह बात मेरे घर के भी बहुत से लोग न जानते थे। बंदरिया इसे कैसे जान गई?

मैंने पूछा—“यह रोग कैसे मिटेगा?”

बंदरिया अपना दाहना हाथ अपने बाये कंधे पर ले गई। फिर अपनी छाती के ऊपर उसने एक चिन्ह सा बनाया। तदनन्तर जरा-सी मिट्टी लेकर वह खा गई। इसके बाद दोनों हाथों से एक गोले पदार्थ का संकेत करके उस पर जल डालने का अभिनय किया। अंत में चिल्लाकर इशारा करके उसको अपने मुख से स्पर्श किया।

फकीर कहने लगा—“किसी ब्राह्मण की पद-रज पाने और शिव के ऊपर चढ़ाया हुआ जल पीने से आपका रोग दूर हो जायगा, अन्यथा नहीं।”

तब मैंने मन-ही-मन तीसरा प्रश्न किया। इस दफे भी मुझको सुफल वाली ही सुपारी देकर बंदरिया मेरे घर की ओर देखने लगी।

फकीर ने कहा—“जान पड़ता है कि आप एक नया घर बनाना चाहते हैं। यह कहती है, घर बन तो जायगा पर कुछ समय लगेगा।”

उत्तर सुन कर मैं बहुत विस्मित हुआ। मैंने इसी विषय में प्रश्न किया था। इस तरह के मानसिक प्रश्न करना छोड़कर अब मैंने उस बानरी से पूछा—“मेरे बाल बच्चे कितने हैं?”

बैदरिया ने एक एक करके पांच सुपारियाँ जमीन पर रख दी। और एक छोटी सी लड़की को जाकर स्पर्श किया। तब उसने एक सुपारी और रक्खी और एक छोटे से लड़के के पास जाकर उसके बदन को छू दिया।

फकीर के कहने के पहले ही मैं इस इशारे का मतलब समझ गया था। मेरे पांच कन्याये और एक पुत्र है, यही बन्दरिया ने बताया।

मैंने फिर पूछा—“क्या मेरे एक ही पुत्र है?” यह सुनकर बंदरिया मानो मेरा तिरस्कार करने के लिए किम् किम् शब्द करती हुई मेरे पास आई। उसने दो सुपारियाँ जमीन पर रख दी। फिर उनमें से एक को उठाकर वह आंखें बन्द करके जमीन पर सो गयी।

यह दृश्य देखकर पास बैठी हुई स्त्रियो के दिल पर बहुत चोट लगी। मैं पछताने लगा। हाय! मैंने क्यों ऐसा प्रश्न किया था? कई वर्ष पहले मेरे जेष्ठ पुत्र का स्वर्गवास हो चुका था, यही उस बंदरिया का अभिप्राय था। इसका मुझे बड़ा दुःख हुआ।

मेरी दासी ने पूछा—“क्या बाबू की सारी कन्यायें यहीं हैं?”

बंदरिया ने इसका कोई उत्तर न दिया। पर, जब मैंने भी यह प्रश्न किया तब उसने तीन सुपारियाँ जमीन पर रखकर कपड़े के टुकड़े से अपने मुह को ढक लिया।

बंदरिया का कहना ठीक था कि मेरी तीन कन्यायें उस समय वधू रूप से अपने-अपने घर थीं। मैंने पूछा—“मेरी जो दो कन्यायें यहाँ उपस्थित हैं, क्या उनको दिखा सकती हो? छः बरस की संतोषवाला

और तीन बरस की बेबी दस-बारह लड़के-लड़कियों के साथ इधर उधर खेल रही थी। बदरिया ने एक का आचल और दूसरी के सिर के बाल पकड़ कर दोनों को मेरे सामने हाज़िर कर दिया। मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा।

मैंने कहा—“क्या मेरा पुत्र यही है?”

बदरिया ने फकीर की छड़ी उठाकर उसे उत्तर की ओर फेंक दिया। फिर वह अपनी उंगली से जमीन पर रेखाएँ बनाने लगी।

फकीर ने कहा—“आपका पुत्र यहाँ से उत्तर की ओर गया है। वही वह लिखना पढ़ना सीखता है।”

क्या ही ठीक जवाब था! मेरा पुत्र उस समय अजीमगंज के विद्यालय में पढ़ता था और अजीमगंज बाँकुड़ा से उत्तर ही है।

इसी प्रकार और भी कई प्रश्न करके मैंने उस बदरिया से यथार्थ उत्तर पाये।

मेरी सबसे छोटी लड़की खीरे का टुकड़ा खा रही थी। फकीर ने कहा—“कृपा कर, एक टुकड़ा खीरे का दीजिये। बदरिया उसे खाना चाहती है।”

बदरिया को उसी क्षण खीरा दिया गया। उसको खा लेने पर उसने जल पीना चाहा। एक पात्र में उसे जल भी दिया गया।

मैंने बदरिया को कुछ पैसे दिये। उन्हें उसने स्वीकार कर लिया। इसके बाद मैंने फकीर को कुछ पुरस्कार देकर उससे बदरिया का सारा इतिहास पूछा। वह कहने लगा—

“मेरे पितामह एक सिद्ध फकीर थे। यह उन्हीं की बदरिया है। इसकी उम्र इस समय करीब ६० बरस की है। उनके पास ऐसे ही बहुत से बदर और बदरिया थी। मेरे घर के पास ही एक मीर साहब की दरगाह है। कहते हैं मेरे पितामह ने उसी दरगाह के पास एक कुआँ खुदवाया था। उसी में वह बंदरों के बच्चों को २१ दिन तक रखते थे। खाने के लिए ऊपर से कुछ मिट्टी गिरा देते थे। उनमें से

कुछ तो पहले ही मर जाते थे। जो जीते-जागते रहते थे उनमें ही ऐसी शक्ति आ जाती थी।

तीन दिन बाद मेरे मुकद्दमे की तारीख़ थी। बंदरिया की भविष्यवाणी के अनुसार उसका नतीजा अच्छा ही हुआ। बंदरिया की अद्भुत शक्ति के विषय में जो कुछ लिखा गया है, उसमें एक अक्षर भी मिथ्या या अपनी ओर से बढ़ाकर नहीं लिखा गया है। मैं तब से इस अलौकिक घटना के सबध में बराबर चिन्तित रहता हूँ। पर आज तक कोई भी सतोषजनक मीमांसा नहीं कर सका। यदि पाठको मे से कोई सज्जन इस अद्भुत समस्या का समाधान कर दें तो मैं उनका बड़ा अनुगृहीत हूँगा।

(सरस्वती, अप्रैल, १९१४)

— — —

फ्रेडरिक निट्शे

जर्मनी में फ्रेडरिक निट्शे (Friedrich Neitsche) नाम का एक असाधारण विद्वान् हो गया है। उसे मरे अभी सिर्फ १५ वर्ष हुए। तब से उसके चरित तथा शिक्षाओं से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों की संख्या सभी देशों में दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही है। उसकी शिक्षाओं का लोगो पर, विशेषकर उसके देशवासियों पर जो असर पड़ा है उसके सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कोई-कोई उसे जर्मनी का सबसे बड़ा तत्त्ववेत्ता और नीतिशास्त्री मानते हैं, पर कोई-कोई उसे अज्ञानी, मूर्ख, दुराचार शिक्षक और अव्यवस्थित-चित्त बताते हैं। कुछ लोगो का यह भी कहना है कि जर्मटे में युद्ध से प्रेम और शान्ति से घृणा पैदा करने वालों में ट्राइस्टर के नाम के लेखक के बाद इसी का नम्बर है। यही कारण है कि जब से यूरोप में महाभारत मचा है तब से इसके विषय में सैकड़ों लेख लिखे जा रहे हैं। इसके विचार-वैचित्र्य की लोगों में यत्र-तत्र चर्चा भी खूब होने लगी है।

फ्रेडरिक निट्शे का जन्म सन् १८४४ ईसवी में, एक ईसाई पादरी के घर हुआ था। जब वह ६ वर्ष का था, उसके पिता की मृत्यु हो गई। तब से वह बराबर अपनी माता की देख-रेख में एक ग्रामीण स्कूल में शिक्षा पाने लगा। वहाँ की पढ़ाई समाप्त कर के वह १८६४ में, जर्मनी के बान विश्वविद्यालय में जाकर भरती हुआ। वहाँ से कुछ काल बाद, वह लाइपजिक नगर को चला गया। लाइपजिक में वह शोपनहार नामक तत्वज्ञानी की शिक्षाओं पर मुग्ध हो गया। शोपनहार अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न दार्शनिक था। वह हमारे उपनिषद् ग्रन्थों को बड़ी ही श्रद्धा की दृष्टि से देखता था। निट्शे ने एक जगह लिखा है—“मैं उन लोगों में से हूँ जो शोपनहार की किसी पुस्तक का एक पृष्ठ पढ़

कर उसे बिना समाप्त किये नहीं रह सकते और जो उस महात्मा के मुख से निकलनेवाले प्रत्येक शब्द को बड़े ध्यान से सुनने के लिए लालायित रहते हैं। ज्यों-ज्यों, समय बीतता है मेरा विश्वास उसके वचनों पर बढ़ता ही जाता है। ऐसे ज्ञानी ससार में शायद ही कहीं खोजने से मिलेंगे।” यह बहुत कुछ शोपनहार की ही शिक्षाओं का फल है कि निट्शे ईसाई धर्म का परित्याग कर के सदा के लिए कट्टर नास्तिक बन गया। शोपनहार के ही दुःखमय जीवन को लक्ष्य कर के उसने लिखा है—“ससार में सुखमय जीवन अमभव है। मनुष्य का जन्म लेकर कभी अच्छे या बुरे फल के मिलने की परवा न करके प्रत्येक कार्यक्षेत्र में वीरत्व दिखाना ही सबसे अधिक प्रशसनीय काम है। ऐसे मनुष्य का हृदय अन्त में वज्रवत् कठोर हो जाता है, पर उसकी महत्ता रत्ती भर भी कम नहीं होती। उसकी कामनायें नष्ट-सी हो जाती हैं। वह कर्तव्य-परीक्षाओं में अवश्य ही उत्तीर्ण होता है। ससार की कृतघ्नता का अनुभव करता हुआ वह अन्त में निर्वाण प्राप्त करता है। ससार में उसकी स्मृति रह जाती है। और लोग उसे वीर कहकर उसकी पूजा करते हैं।”

थोड़े ही समय बाद निट्शे वेल विश्वविद्यालय में ग्रीक भाषा शास्त्र का अध्यापक नियत हो गया। लाइपजिक के विश्वविद्यालय ने बिना उसकी परीक्षा लिये ही, उसे डिग्री दे दी। वेल में पूरे दस वर्ष वह अध्यापन का कार्य करता रहा। जब १८७० में जर्मनी और फ्रांस के बीच युद्ध छिड़ा, निट्शे रोगियों की सेवा-शुश्रूषा करने के लिए जर्मन-सेना के साथ फ्रांस गया। वहाँ से, कुछ काल बाद, बीमार होकर वह घर लौट आया। १८७२ में उसने ‘वियोगान्त या दुःखान्त नाटको की उत्पत्ति’ नाम की अपनी सब से पहली पुस्तक प्रकाशित की।

निट्शे ईश्वर या परलोक का अस्तित्व न मानता था। शोपनहार के सदृश उसका भी यही खयाल था कि संसार में सुख की अपेक्षा दुःख अधिक है और हमारे दुःखों का एकमात्र कारण हमारी इच्छाएँ,

हमारी विभिन्न प्रवृत्तियाँ हैं। अतएव जहाँ तक हो सके हमे उनसे रहित होने का प्रयत्न करना चाहिए। पर शोपनहार का मत यह था कि संसार की यातनाओ से छुटकारा पाने का उपाय, संसार में जन्म ग्रहण करने पर ही ठहर सकता है। उसकी उन्नति के लिए समाज में भिन्न-भिन्न जातियों का होना जरूरी है। वह समाज को हमारे मनु जी की व्यवस्थाओ के अनुसार संगठित करना चाहता था। उसने ऊँची और नीची जातियों के जो भेद बताये हैं, वे जानने योग्य हैं:—

“नीची जातियों के हिस्से में दो ही चीजे हैं—अन्धविश्वास और दासत्व। इनके सिवा उनके लिए तीसरा मार्ग नहीं। दुःख उनके भाग्य में बदा है, इससे वे कभी बच नहीं सकते, क्योंकि सत्य स्वयं कठोर है। इसी कारण किसी विशेष धर्म, सम्प्रदाय या पन्थ में विश्वास रखना उनके लिए बहुत आवश्यक है। ऐसे विश्वास की बदौलत उन्हें संतोष और शान्ति मिल सकेगी, और दूसरो के आज्ञापालन की उन्हें आदत पड़ जायगी। कृषि, व्यापार, कला-कौशल और विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले सभी काम इन्हीं नीची जातियों को करने पड़ेंगे। इनके बाद न्यायाधिकारियों और युद्धविद्या-विशारदों का स्थान रहेगा। सब से ऊँचा दरजा उन महात्माओं का होगा जो अपने देश-कालानुसार भले-बुरे का सच्चा ज्ञान रख सकेंगे और जो सर्वसाधारण लोगों के नेता बनने में अपने अथवा अपने समाज के सुख-दुःख की कुछ भी परवा न करेंगे। वे संसार में जीवन और मरण की बाजी लगाकर अपना खेल खेलेंगे और अपनी वास्तविक उन्नति का सदा खयाल रखेंगे।”

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, पाश्चात्य देशों में विज्ञान-शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई। वह वैज्ञानिक युग था। सत्य का अन्वेषण करने-वालों को पुरानी लकीर पीटना पसंद न था। डार्विन की पुस्तक ‘प्राणियों की उत्पत्ति’ (१८५८ ई०) ने सर्वत्र बड़ी हलचल-सी मचा दी। हक्सले, टिन्डल, हेगल इत्यादि विद्वानों ने बरसों के कठिन परिश्रम से जो वैज्ञानिक तत्व आविष्कार किये उनसे लोगों के पुराने विचारों की

जड़ें हिल उठी। विकासवाद के साथ ही और और भी कितने हीवादों का प्रचार बढ़ता गया। इन सब बातों से ईसाई धर्म की पुरानी और मजबूत इमारत को ऐसा धक्का पहुँचा कि वह हिलने लगी। उसकी नींव बहुत ही कमजोर हो गई। तथापि बाइबिल की सदाचार-शिक्षाओं का खडन करना किसी भी विज्ञानवादी ने मुनासिब न समझा। इस विषय में सभी पुरानी लकीर के फकीर बने रहे। इसका साहस निट्शे ही कर सकते थे। इच्छा का नाश करना, निर्वाणपद की प्राप्ति के लिए प्रयास करना शोपनहार के मतानुसार ठीक है। पर निट्शे के अनुसार इस उपाय का अवलंबन करना मनुष्योचित व्यवहार नहीं। वह कहता है—“अगर दुनिया तकलीफों से भरी है तो भरी रहे। तुम्हें इस कारण जीवन से निराश होना उचित नहीं। अनन्त जीवन का जो स्रोत तुम्हारे चारों ओर प्रवाहित हो रहा है उसमें तुम्हारा जीवन एक लहर के समान है। इसलिए संसार के दुःख को अपना दुःख समझना—अपने हृदय में सहानुभूति का भाव उत्पन्न करना तुम्हारा धर्म है, जीवन के बधन से मुक्त होने की कोशिश करना तुम्हारा धर्म नहीं। आदर्श पुरुष वही है जो जानता है कि संसार में सच्चा सुख कभी नहीं मिल सकता, जो हमारे और तुम्हारे लक्ष्य पदार्थ—बाहरी चमक-दमक और शोभा-समृद्धि को घृणा की दृष्टि से देखता है, जो नाश करने योग्य पदार्थों का नाश करने में भी संकोच नहीं करता, जो स्वयं दुःख पाकर अथवा दूसरों को दुःख पहुँचा कर मुख से कभी आह नहीं निकालता और जो अपनी जीवन-यात्रा में कभी सत्य के मार्ग से विचलित नहीं होता। हमें अपना स्वभाव कुछ ऐसा बना लेना चाहिये जिसकी बदौलत हमें संसार सदा आनन्द-पूर्ण दिखाई दे और जीवन-संग्राम में हमारी कभी निराशा से भेंट न हो।”

निट्शे ने अपनी नव प्रकाशित पुस्तकों में यही सिद्ध किया है कि इसी भारी जीवन-समस्या को हल करने के उद्देश्य से, पुराने समय में, यूनानी विद्वानों ने वियोगान्त अथवा दुखान्त नाटक लिखे थे, क्योंकि जब

कभी कोई पुरुष ऐसा अभिनय देखता था तब उसकी अहन्ता या अहमन्यता नष्ट हो जाती थी और वह विश्व के प्रेम में डूबकर, प्रकृति के साथ एकीभूत हो जाता था। निट्शे वास्तव में प्राचीन यूनानी सभ्यता का बड़ा पक्षपाती था। वह आधुनिक सभ्यता को बड़ी ही तुच्छ दृष्टि से देखता था। उसका मत था कि प्राचीन यूनानियों ने कविता, संगीत, नाटकाभिनय, चित्र, तक्षण इत्यादि कलाओं की सृष्टि इसी उद्देश्य से की थी कि जीवन के अधिकारमय अंश पर ऐसा पर्दा गिर जाय जिससे हमें सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश दिखाई दे, और हम ससार की भयकरता को सदा के लिए नहीं, तो कुछ काल के लिए अवश्य ही भूल जायँ।

१८७५ में निट्शे का स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया। इससे वह अध्यापन का कार्य छोड़ कर अपने मित्र प्रसिद्ध संगीताचार्य बागनर से मिलने के लिए, १८७६ में, बेल्लेउथ नामक नगर को चला गया था। उसी साल उसने बागनर की कला-कुशलता के सम्बन्ध में एक पुस्तक भी प्रकाशित की। इसके पहले उसने शोपनहार की शिक्षाओं पर भी एक पुस्तक लिखी थी। पर इसी निट्शे ने, १८८८ में, बागनर को जहरीला साँप (A clever rattle snake) कह कर उसका परिचय दिया। शोपनहार में भी उसकी श्रद्धा अधिक काल तक नहीं रही। धीरे-धीरे उसके विचारों में बड़े परिवर्तन उपस्थित होते गये—

“Naturally a hero-worshiper, he lost, in the isolating process of his thinking, all his early ideals, his works becoming more and more charged with strongly worded denunciations of all modern men and things”.

१८७९ ईस्वी में उसने विश्वविद्यालय की नौकरी से इस्तीफा दे दिया। इसके दो वर्ष बाद उसने ‘प्रभातागम’ नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की। उसमें उसने दिखाया कि शरीर-शास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर ही सच्चा सामाजिक संगठन हो सकता है। १८८२ में

उसने आनन्ददायक ज्ञान नाम की पुस्तक लिखी। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक —‘जरथुष्ट्र का भाषण’ भी इसी साल निकली। ‘शक्ति की कामना’ नाम की एक बहुत बड़ी पुस्तक लिखने की उसकी बड़ी इच्छा थी। पर उसे वह पूरी न कर सका। उसके लिये उसने जो नोट इकट्ठे किये थे, वे अब ८०० पृष्ठों में, पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। यह पुस्तक निट्शे के विचारों की विचित्रताओं की खान है।

निट्शे की समझ में यह कहना कि जीवधारियों के बीच अपना-अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए संघर्षण चल रहा है, भूल के सिवा और कुछ नहीं। अपनी शक्ति, अपनी प्रभुता बढ़ाना ही हम लोगों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य है। निट्शे ने अपने पक्ष के समर्थन में जो प्रमाण पेश किये हैं, वे इस छोटे से लेख में नहीं दिये जा सकते। समाज में सब के स्वत्व बराबर है, इस विचार का वह बड़ा ही विरोधी था। वह समाज में सबको बराबर अधिकार देना पसन्द नहीं करता था। उसकी शिक्षा है कि समाज वर्णाश्रम धर्म की देन है। यही कारण है कि उसे अपने विपक्षियों से इतने दुर्वचन सुनने पड़े और वह अभी तक कितनी ही गलतफहमियों का शिकार बन रहा है।

जिस समय मनुष्य किसी विशेष ग्रन्थ या किसी विशेष महात्मा की बातों में अन्धविश्वास करना नहीं चाहता, उस समय उसके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि किसी आचरण के अच्छे या बुरे होने का सच्चा प्रमाण क्या है। जब हम आप्त वचनों को मानते हैं तब तो कुछ हर्ज ही नहीं, पर जब हम एकमात्र अपनी बुद्धि को ही मार्गदर्शक बनाना चाहते हैं, तब समस्या बड़ी जटिल हो जाती है। प्रतिदिन हम ऐसे हजारों काम करते, देखते या सुनते हैं जिनके विषय में हम अपनी सम्मति क्षण भर में स्थिर कर लेते हैं। अपनी बुद्धि के अनुसार उसके भले या बुरे होने की जाँच करने की कसौटी कौन सी है? इस सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। अतः कारणवाद का खडन करके ग्रन्थकार मिल ने उपयोगितावाद का प्रचार किया। हर्बर्ट स्पेन्सर ने लिखा—

आचरण-सम्बन्धी ज्ञान का विकास सामाजिक जीवन की गति के अनुसार होता है। यदि समाज में प्रत्येक मनुष्य मनमानी करना चाहे—यदि पारस्परिक संघर्ष की मात्रा बढ़ती चली जाय तो उसमें घोर विप्लव उपस्थित होगा, वह बहुत दिनों तक न ठहर सकेगा। अतएव प्रत्येक व्यक्ति को समाज में उसी मार्ग से चलना पड़ता है जिसे अधिकांश मनुष्य अच्छा समझते हैं। कुछ काल में उसी मार्ग से चलने की नई प्रथा पड़ जाती है और लोगो को इस सामाजिक नियम के विरुद्ध आचरण करने का साहस नहीं होता। इसी प्रकार हमारे अन्तःकरण की जड़ जमती है। निरस्तिवादियो (Nihilists) का भी कहना प्रायः यही है। अब फ्रेडरिक निट्शे के विचार भी संक्षेप में सुन लीजिये:—

“इतिहास में जान पड़ता है कि प्राच्य या प्रतीच्य सभ्यता के प्रारम्भकाल में, प्रत्येक देश, प्रत्येक समाज—में दो दल वर्तमान थे। एक बलवान और दूसरा निर्बल था। पराधीन हो जाने पर निर्बल जातियाँ अपने बलवान स्वामियो की सेवा करती थी। इसी से उनका पालन-पोषण होता था। बलवान स्वामी अपने निर्बल सेवको को घृणा से देखते थे। निर्बल सेवक अपने स्वामियो से असन्तुष्ट रहते थे। आर्य श्रेष्ठ थे और अनार्य म्लेच्छ। एक जाति अपने को सभ्य और दूसरी को बर्बर समझती थी। यहीं पर अच्छे और बुरे का भेद शुरू हुआ। स्वामी को वीरता पसन्द थी। इसी से वह बल, साहस, धोखेबाजी यहाँ तक कि निर्दयता को गुण समझता था। भय, चापलूसी, नम्रता, मिथ्याभाषण इत्यादि उसकी दृष्टि में दोष थे। उसका विश्वास था कि अपने सेवकों के साथ मनमाना बर्ताव करने का उसे पूरा अधिकार है। वह चाहे उन पर दया दिखावे, चाहे अत्याचार करे। पर साथ ही, अपनी बराबरी के लोगों को उसे और ही दृष्टि से देखना पड़ता था। वृद्ध पुरुषों का सम्मान करना, अपने प्रभु की आज्ञा का पालन करना, चिरागत प्रथाओं का सत्कार करना, उसके आवश्यक कर्तव्य थे। उसकी समझ में ऐसा कोई भी आचरण अच्छा नहीं कहा जा

सकता था जिससे उसकी जाति के बल का ह्रास हो सकता था।”

“विजित जातियों का व्यवहार ठीक इससे विपरीत था। उसके जन-समुदाय अपने जीवन से असन्तुष्ट थे। उन्हें अपने शासकों से घृणा थी। निर्बल होने के कारण उनके मत में दया, सुशीलता, धैर्य, अध्यवसाय, नम्रता इत्यादिगुण थे। मनुष्य में इन बातों का होना वे अच्छा समझते थे। जोरो-जुल्म और सख्ती के काम उनकी समझ में बुरे थे। इस तरह संसार में दो नीतिमार्गों की सृष्टि हुई—एक शासक और दूसरा शासित जातियों के लिये। ऐसी अवस्था में, समाज में, भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्यों के रहते हुए, सभी के लिए एक ही मार्ग ठीक समझना उचित नहीं। शेर की भलाई में बकरी की बुराई है। फिर यदि दोनों को एक ही सदाचार की शिक्षा दी जाय तो उसका नतीजा कैसा खराब होगा? अतएव, हमें सदा स्मरण रखना चाहिये कि कहीं हम धोखे में आकर सेवकों के हित को अपना हित न समझ लें, और जो बातें उनकी दृष्टि में गुण हैं, उनको हम भी गुण न मानने लगें।”

निट्शे के ऊपर सब से अधिक दोषारोपण इसीलिए किया गया है कि वह दीन-दुखियों के ऊपर दया दिखाना पाप समझता है। उसका कहना है कि जो मनुष्य दुर्दशाग्रस्त, अतएव दुखी है, उसकी सहायता करने से उसके साथ सहानुभूति दिखाने से—संसार में दिन-पर-दिन कमजोरी बढ़ती जायगी, लोगों को अपने पैर पर खड़ा होने की—स्वावलंबन की—शिक्षा न मिलेगी। निट्शे सुप्रजनन शास्त्र (Eugenics) के जन्मदाताओं में से था। दुर्बलता उसकी समझ में मृत्यु की निशानी है। वह मानव जाति की पीड़ाओं की परवा नहीं करता। यदि कोई किसी दुःख या व्याधि से पीड़ित है तो पीड़ित रहे। हमें उसके साथ आंसू बहाने से क्या लाभ? हाँ, यह उसका धर्म है कि वह अपनी अवस्था सुधारने के लिए प्राणपण से चेष्टा करे। अपनी अशक्तता दूर करने के लिए शक्ति सचय करना सीखे।

ऊपर जिन पुस्तकों का उल्लेख हो चुका है उनके अलावा और भी कितनी ही पुस्तकें निट्शे ने लिखी हैं। सच पूछिये तो संसार में उसकी किसी से नहीं बनी। मिल, स्पेन्सर, डार्विन, शोपनहार, बागनर इत्यादि सभी विद्वानों के मतों का उसने तीव्र प्रतिवाद किया। स्पेन्सर ने लिखा था—जीवन चंचलता का नाम है, इस पर आप बहुत खफा हो गये। आपने लिखा—नहीं, जीवन बल-प्रयोग, अत्याचार, छीना-भपटी और क्रूरता का नाम है, सिर्फ चंचलता कहने से कुछ समझ में नहीं आता।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, निट्शे की शिक्षाओं के सम्बन्ध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। उदाहरण लीजिये। एक अंगरेजी मासिक पत्र में किसी लेखक ने लिखा है—

“The Nietzsche’s crazee went so far that many people called him a spiritual master..... one wonders how some English writers could really pronounce him to be a great genius in moral philosophy.” (इत्यादि) और उसी पत्र की दूसरी सख्या में एक प्रसिद्ध विद्वान अपनी सम्मति देता है—

“Nietzsche was a highly spiritual teacher, a prophet in the real sense of the term, being in the direct line of those great teachers who have come from time to time to encourage men to fight against sin, the world and the devil.”

१८८८ में निट्शे का दिमाग बिगड़ गया। बहुत कोशिश करने पर भी वह अच्छा न हो सका। १९०० दे० के जनवरी मास में वह इस संसार से चल बसा। तब से उसके भक्तों की संख्या दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। यूरोप की प्रायः प्रत्येक भाषा में उसके ग्रन्थों के अनुवाद निकले। उनकी कितनी ही अनुकूल और प्रतिकूल समालोचनायें हुईं। किसी ने सरस्वती सदन में उसे बहुत ही ऊंचे आसन पर बिठाना चाहा,

किसी ने उसके बातों को पागल की बकवास मात्र समझा। इसी बीच में यूरोप में महाभारत शुरू हो गया। लोगों को निट्शे की और भी अधिक याद आन लगी। तब से बराबर उसके ऊपर सैकड़ों लेख निकल रहे हैं। लोग अपनी-अपनी कलम लड़ा रहे हैं। पर अभी तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सका। शायद इसके लिए और भी अधिक समय लगे।

“तस्मात्प्रवर्तय सखे सततं परीक्षाम्”।

(सरस्वती दिसम्बर, १९१५)

—

सामाजिक नाटक

हिन्दी मंसार मे सामाजिक नाटको की लोकप्रियता बढती जा रही है। जनता की मांग पूरी करने के यत्न-तत्न प्रयास भी हो रहे हैं। फिर भी समालोचक को यह कहते सकोच नही हो सकता कि वृद्धि सख्या की ही हो रही है, गुण-गरिमा की नही। अपने देश के ही सर्वश्रेष्ठ नाटककार कह गये हैं कि “आपरितोषाद्विदुषा न साधुमन्ये प्रयोग विधानम्”। पर, आज विद्वानो के परितोष की किसे परवाह है। टिकट खरीदनेवालो का परितोष हुआ और नाटककार ने अपना प्रयत्न सफल समझा। मैं उसे इसके लिये दोष नही देता, पर मैं यह कैसे भूल सकता हूँ कि दर्शको की आँखो मे धूल भोकना और बात है, काव्य-परीक्षको से प्रशसापत्र प्राप्त करना और। जो, हो यह अस्वीकार नही किया जा सकता कि हिन्दी मे ऐसे पदचिह्न भी नही मिलते जिनके अनुसरण से हिन्दी-नाटककार विशेष उपकृत हो सके। सस्कृत नाटक के भस्मावशेष से ब्रजभाषा में किसी नाटक का आविर्भाव न हो सका। हिन्दी मे नाटक का श्रीगणेश तो उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध से होता है। प्रान्तीय भाषाओ मे भी सामाजिक नाटक की अवस्था विशेष उन्नत नही। अपने देश मे, हम आदर्शों के लिए सस्कृत साहित्य का दरवाजा खटखटा सकते हैं, पर अर्वाचीन समाज प्राचीन समाज से इतनी दूर जा पड़ा है कि वहाँ हमारे प्रश्नो के जो उत्तर मिलते हैं, उनसे हमे पूरा सन्तोष नहीं होता। आज से प्रायः चालीस बरस पहले ‘भारतेन्दु’ को भी यही अनुभव हुआ था। अपने ‘नाटक’ ग्रन्थ में वह लिखते हैं—“प्राचीन काल के अभिनयादिके सम्बन्ध में तात्कालिक कवि लोगो की ओर दर्शक-मंडली की जिस प्रकार रुचि थी, वे लोग तदनुसार ही नाटकादि दृश्य काव्य

की रचना कर के सामाजिक लोगो का चित्त-विनोदन कर गये हैं, किन्तु वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकाश में विलक्षण है, इससे सम्प्रति प्राचीन मतावलम्बन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।”

अवश्य ही कोई यह प्रस्ताव करने या परामर्श देने की धृष्टता नहीं कर सकता कि नाटक रचना में प्राचीन पद्धति का पूर्णतया परित्याग कर दिया जाय। लक्ष्य तो वही होना चाहिये कि काम की बातें जहाँ मिले, वहाँ से उन्हें लाना और अपनाना। जहाँ तक इस लेख का सम्बन्ध है, वह केवल एक ऐसी दिशा में तत्त्वान्वेषण की सलाह दे सकता है जिस ओर भारतवर्ष ने अभी तक बहुत कम ध्यान दिया है। यह दिशा है पाश्चात्य जगत् के ‘आधुनिक नाटको’ की। पश्चिम की वस्तु पूर्व के काम की नहीं हो सकती, पर उसकी वस्तु-निर्माण की विधि या प्रणाली इसके लिए कितने ही क्षेत्रों में सर्वथा अनुकरणीय है। संसार मात्र की अवस्थाएँ धीरे-धीरे एक समतल प्रदेश में आ रही हैं—क्या नाट्यकार यह नहीं देखते? और जब फोटोग्राफी यहाँ भी आने ही वाली है, तब हम केमरा के विषय से पूरे अनभिज्ञ क्यों बने रहें?

तो यह ‘आधुनिक नाटक’ है क्या चीज? सुना जाता है कि ‘सामाजिक नाटक’, ‘समस्या संबन्धी-नाटक’ इसी आधुनिक नाटक की विशेष सजाएँ हैं। प्राचीन नाटको का सबध समाज या समस्या से नहीं रहता था? पश्चिम की तो बात ही जाने दीजिये, अपने नाटको में, लोकातीत असमय कार्यों की अवतारणा करनेवाले भारतवर्ष ने ही तो ‘मृच्छ-कटिक’, ‘मृद्राराक्षस’ और ‘प्रबोध-चन्द्रोदय’ को जन्म दिया था, जिनमें तत्कालीन समाज का जीता-जागता आशिक चित्र हमें इस समय भी मिल सकता है। यदि आजकल के सामाजिक नाटक कुछ भी महत्व रखते हैं और ऐसे लोगों की कमी नहीं जिनकी दृष्टि में वह कुछ नहीं बहुत महत्व रखते हैं—तो उनकी विशेषता क्या है? इस

प्रश्न का उत्तर देने के पहले मैं पाठको को साहित्य-निर्माण के उद्देश्य की याद दिलाता हूँ।

साधारणतः हम साहित्यिक के उद्देश्य के सबंध में यह कह सकते हैं कि वह या तो हमें अपनी वास्तविक परिस्थिति का ज्ञान कराना चाहता है, या हमें एक ऐसे प्रदेश में ले जाना चाहता है जिसे हमने अभी तक देखा नहीं, पर हो सकता है, जिसके लिए हमारी अन्तरात्मा तरस रही है। इसीलिए साहित्य के दो प्रधान लक्ष्य माने गये हैं, और उसकी सभी प्रवृत्तियाँ 'वस्तुवाद' और 'आदर्शवाद' के अन्तर्गत समझी गई हैं। 'वस्तुवाद' और 'आदर्शवाद' बहुधा एक ही लेखक में मिले होते हैं, और यही कारण है कि अधिकांश काव्य-कृतियाँ किसी एक श्रेणी में नहीं रखी जा सकती। कहने के लिए तो 'आदर्शवादी' कवि के विषय में यह कहा गया है कि—

“जीवनमंथन से निकला जो

विष वह उसने पान किया।

और अमृत जो ऊपर आया,

उसे जगत को दान दिया।”

पर खालिस अमृत देनेवालों की संख्या कितनी थोड़ी होती है। विचार करने के लिए केवल प्रधानता देखी जाती है। किसी साहित्य के स्वरूप का निरूपण करते समय हमें यही देखना होता है कि उसमें प्रधान वस्तुवाद है या आदर्शवाद—इसका प्रधान लक्ष्य यथार्थता की भूमि चित्रित करना है अथवा भावों का कनक-भवन खड़ा करना।

पर यथार्थता का चित्रांकन कह देना आसान है, उसे कर देना साहित्य में कठिन-से-कठिन काम है। प्राचीन-से-प्राचीन नाटक-ग्रन्थों में आपको सामाजिक समस्याओं का उल्लेख मिलेगा, पर अभी हाल तक की परिपाटी यह थी कि उनका नग्न रूप पाठकों या दर्शकों के सामने रखना एक भारी अपराध माना जाता था। जब कभी नाटककार

उन्हें उपस्थित करता, तब उनके ऊपर एक ऐसा आवरण डाल देता जो उनकी विरूपता या भयंकरता का एक बहुत बड़ा भाग आच्छादित कर लेता। जीवन में सुख और दुःख दोनों ही भोगने पड़ते हैं—

“काहु पै दुःख सदा न रह्यो,

न रह्यो सुख काहु के नित्त अगारी।

दोऊ फिरें रथचक्र मनो तर

ऊपर आपनि आपनि बारी ॥”

फिर भी संस्कृत नाटककारों को इस नियम का पालन करना पड़ता कि नाटक कभी दुःखान्त न हो। मानो सुख और दुःख के द्वन्द्व में जीत सुख की ही रहती है, मानो मनुष्य के जीवन नाटक का अन्तिम या कोई पर्दा विपत्ति-वर्षा की रात में नहीं गिरता। यह बात हमारे देश में ही न थी, जिन पाश्चात्य देशों में दुःखान्त नाटकों की रचना ने विशेष उन्नति की। वहाँ भी इस बात का बराबर ध्यान रखा जाता था कि दृश्य इतना कठोर न हो कि दर्शकों को असह्य हो उठे। नतीजा क्या हुआ ? एक पक्षी-विशेष के सबध में कहा जाता है कि विपद् की सभावना देख कर वह बालुका में अपना सिर गाड़ लेता है और अपने को निरापद समझता है। तत्कालीन समाज ने भी इस विश्वास-बालुका में अपना सर गाड़ लिया कि प्रत्येक कार्य का परिणाम मंगलमय ही होता है, अतएव हम सर्वथा निरापद हैं और रहेंगे। नाटककारों ने समय-समय पर किसी समस्या की असलियत को किस प्रकार हमारी आँखों की ओट कर दिया है, इसका एक उदाहरण नीचे देता हूँ—

नायक-नायिका के प्रेम की कहानी बहुत पुरानी है। यह कहानी कभी किसी भौगोलिक सीमा से मर्यादित भी न रही। पर देखिये, ससार मात्र के कवियों ने समाज को नायिका के साथ सहानुभूति के सूत्र में बाँधने के लिए किन उपायों का अवलंबन किया है और किनसे हमें एक कठोर-से-कठोर सामाजिक समस्या की विस्मृति करा दी है।

नायिका नायक पर प्रेमासक्त हुई। प्रारम्भ में उसकी आँखें एकान्त में कहीं लगी थीं, पर आँखें भी क्या चीज हैं—

“छिपाये छिपत न नैन लगे ।

उघरि परत सब जानि जात है घूँघट में न खगे—”

फल यह हुआ कि बात घर गाँव में सब पर विदित हो गई—

छिपी न कैसेहु प्रीति तिगोड़ी, अन्त गये सब जानि ।

लगी जहाँ तहाँ इसकी बात चलने, तरह-तरह की आलोचना प्रत्यालोचना होने। किसी को नायिका से सहानुभूति न हुई, पर वह तो जिसे अपना तन-मन समर्पित कर चुकी थी उससे फिर उसे लौटा न सकती थी। जब उसने देखा कि विरोध की मात्रा दिन दूनी रात चौगुनी होती जा रही है तब उसने खुल्लमखुल्ला कहना शुरू किया कि मैं किसी के मतामत की परवा न करूँगी, जिसकी हो चुकी हूँ उसी की बराबर रहूँगी.—

“लोक-लाज कुल की मरजादा, दीनी है सब खोय ।

हरीचन्द ऐसेहि निबहंगी, होनी होय सी होय ॥”

प्राकृत जीवन में इस प्रेम का परिणाम चाहे जो हुआ हो, पर कवि को उस प्रेम-विह्वला की दशा से सच्ची सहानुभूति थी और वह चाहता था कि उसमें जन-समाज भी अपनी सहानुभूति दिखावे। उसने क्या किया? सब से पहले उसने नायक को नायिका से दूर कर दिया, फिर नायिका के अग-अग में विरह की आग लगा दी। वह अधमरी सी हो रही है। दिक्काल का उसे ज्ञान न रहा। उसे केवल प्राणनाथ की प्रतिपल चिन्ता है, जब उनका नाम लेती है तो आँखों में आँसू उमड़ आते हैं, जब उसकी सखी उसकी पीठ पर हाथ फेरती है, तब वह जल्दी से उठ उसका हाथ पकड़ कहने लगती है—‘कहाँ प्राणनाथ अब कहाँ जाओगे?’ और जब वही सखी उससे कुछ कहना चाहती है, तब वह उसे यह कहकर रोकती है कि “बक मत। चित्त

का चोर मेरी आँखों में आ चुका है, जो तू चिल्लायेगी तो वह निकल भागेगा।” पर उसके पागलपन का यही अंत नहीं होता। वह एक पेड़ से जाकर गले लगती है और पूछती है—

अहो कदम्ब ! अहो अम्ब-निम्ब ! अहो बकुल तमाला !

तुम देख्यो कहूँ मनमोहन सुंदर नन्दलाला ?

अहो कुंज बन लता विरुध तू न पूछत तोसों ।

तुम देखे कहूँ श्याम मनोहर ? कहहु न मोसों ।

कवि अपनी उद्देश्य-सिद्धि के लिये जिन-जिन युक्तियों का अवलंबन करता है, सब के परिचय प्रदान की आवश्यकता नहीं। ऊपर के अवतरण ‘श्री चन्द्रावली नाटिका’ से दिये गये हैं, पर इस विषय में वह पश्चिम के भी कितने ही नाटकों के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। हाँ, यह जरूरी नहीं कि नाटककार ने नायिका को विरहिनी के ही रूप में प्रकट किया हो। हो सकता है नायक उसमें दूर नहीं, पर नायिका के अभिभावकों को दोनों का परिणय या सम्बन्ध वाञ्छनीय नहीं। ऐसी अवस्था में कवि उन्हें हमारी घृणा का पात्र बनाने के लिए कुछ उठा नहीं रखता। अर्थात् चाहे नायिका की दशा शोचनीय से शोचनीय बन गई हो, अथवा उसके मार्ग में रुकावट डालनेवाले उसके अभिभावकों को शैतान के शागिर्द बनाकर ही कवि हमें उस प्रणयिनी का समव्यथी और उसका नियंत्रण करनेवाले पुरुषों या प्रथाओं का विरोधी बना देता है और सचमुच, जब यवनिका गिरती है तब हम आश्चर्य करते उठते हैं कि कौन वह हृदय शून्य पुरुष होगा जो लोकलाज खोने और कुलमर्यादा भंग करने के लिए भी इसे दोष दे सकेगा।

पर समय बदलता है—पश्चिम में नाट्यकारों की विचार-पद्धति बदलती है। वही पुरानी कहानी एक बार फिर हमारे सामने आती है, फिर भी वह हमारे मन में उन भावों का उद्रेक नहीं कराती। आज-कल के सामाजिक नाटक की नायिका के हृदय में भी प्रेम का अंकुर एकान्त में ही उठा और ‘चन्द्रावली’ की तरह वह भी उसे अधिक

काल तक गुप्त न रख सकी। पर वह करती क्या है? वह किसी तरह की बेखबरी नहीं दिखाती। अपनी सखी को कभी अपना प्रेमी मान लेने की भूल नहीं करती। वह जितना पहले खाती थी, उतना ही अब भी खाती है। उसकी नींद में भी कुछ कमी नहीं हुई है। वह न तो दर्पण में रात-दिन इस उद्देश्य से मुंह देखती रहती है कि उसकी आँखों में बसनेवाले उसके प्यारे का उसे दर्शन मिलता रहेगा, न वह बाटिका में जाने पर ही किसी वृक्ष से यह पूछती है कि बताओ तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है? उसे मुसीबतें भेलनी पड़ती हैं, कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, पर वह अपने आँसुओं से समाज के पद-प्रक्षालन की बात अपने मन में क्षण भर के लिए भी नहीं आने देती। और एक दिन वह भी आता है जब वह बिना किसी से कुछ कहे-सुने सीधे प्रेमी के घर की राह लेती है और बात की बात में दो जनों के जीवन-स्रोत मिलकर एक हो जाते हैं। दर्शक आँखें मूढ़ लेते हैं। उस पर दया करने की बात तो दूर रही, कोई उस पर दृक्पात भी करना नहीं चाहता। नाटक समाप्त होने के पहले ही अधिकांश लोग यह आश्चर्य करते चल देते हैं कि समाज में ऐसी भी निर्लज्ज स्त्रियाँ हैं।

पर आँखें मूढ़ लेने से काम नहीं चलने का। और आँखें आप आज क्यों मूढ़ते हैं, ऐसी नायिका को निर्लज्ज आप क्यों कहते हैं? प्रश्न यह है कि कुल या समाज की मर्यादा का ऐसे मामले में उल्लंघन करने का अधिकार व्यक्ति को है या नहीं? यदि नहीं, तो आप स्त्री का अनुमोदन उस समय क्यों करते हैं जिस समय आप उसका सारा बदन आँसुओं से तर पाते हैं, जिस समय वह आपको कदम्ब या कालिन्दी को अपनी दुःखगाथा सुनाते मिलती है? सत्य किसी के लिए कोमल हो सकता है, किसी के लिए कठोर, पर क्या उसने भी कभी अपना रंग-रूप बदला है? कुल या समाज का नियन्त्रण मानना ही यदि धर्म है तो इस धर्म के पालन से हमारी

सहानुभूति भी रहे, इसके उल्लघन से नहीं। पर सच तो यह है कि जो समस्या समाज के सामने थी, उस पर उसका ध्यान ही पहले केन्द्रीभूत न हुआ था। जब कभी वह प्रकट होने पर होती, तब नाट्यकार उसे निम्ब, अम्ब और कदम्ब की ओट कर देते। यही सिलसिला सदियों तक जारी रहा। अन्त में जब वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रश्न ने जरा सर उठाया, नाट्य-ससार में नये भावों का आविर्भाव हुआ, तब किसी नाट्यकार ने एक ऐसी नायिका की उद्भावना की जो समाज से उसकी सहानुभूति नहीं, बल्कि अपना स्वत्व माँगती है। चारों ओर से धिक्-धिक् की आवाज उठ पड़ी—मानो सहानुभूति का नाम लेने से जो सत्य रहता, वह स्वत्व का नाम लेने से असत्य हो गया। पक्षी-विपक्षी सब के सामने एक ऐसी अवस्था खड़ी हो गई जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। फिर भी समस्या नई नहीं थी, नाटक द्वारा उस पर प्रकाश डालने की रीति या पद्धति नई थी। ऐसी पद्धति का आविष्कार या अवलंबन ही 'आधुनिक' अथवा 'सामाजिक' अथवा 'समस्या-संबंधी' नाटक का गौरव और विशेषता है।

(सरस्वती मई, १९२२)

जौहरी या जादूगर ?

दसवी जनवरी, १९२१ ई० को हिन्दुस्तानी अखबारों के किसी कोने में एसोसियेटेड प्रेस का भेजा हुआ एक तार छपा था। उसका आशय था कि एक रोज पहले बंबई में ए० एम० जेकब नामक जौहरी की मृत्यु हो गई थी। समाचार इतना मक्षिप्त था—मरने के कई बरस पहले से मिस्टर जेकब ऐसे साधारण व्यक्ति बन गये थे, उनकी अवस्था इतनी दीन-हीन हो गई थी कि बहुत कम लोगों को यह जानने का कुतूहल हुआ होगा कि यह रत्न-व्यवसायी कौन था और क्यों एसोसियेटेड प्रेस ने दुनिया को यह खबर देना जरूरी समझा था। फिर भी किसी जमाने में जेकब का नाम प्रसिद्धि की पराकाष्ठा पर पहुँच चुका था, और भारत सरकार तक को नाच नचाने के लिए उनका इशारा काफी माना जाता था। भारतवर्ष आश्चर्यों की खान है, पर लोग कहते थे कि इस देश में भी ऐसा विचित्रतामय जीवन शायद ही किसी दूसरे का हुआ हो।

जेकब ससार के उन व्यक्तियों में थे जिनकी सख्या हाथ की अँगुलियों पर गिनी जा सकती है। बचपन में वह रोटियों के मोहताज थे। बरसों उन्हें दूसरे की गुलामी करनी पड़ी थी। पर उनके जीवन में एक दिन ऐसा भी आया जब उनके धन की इयत्ता बताना असंभव हो गया। उनसे खरीद बिक्री करने की नहीं, उनके दर्शन करने की इच्छा से आने-वाले लोगों की संख्या महीनों में हजारों तक पहुँचती थी। और इनमें कितने ऐसे होते थे जिन्हें अपने उद्देश्य-सिद्धि के लिए सैकड़ों कोस का सफर करना पड़ता था। लन्दन से न्यूयार्क, किम्बर्लैं से समरकन्द तक के धनी और गुणी समाज में जेकब के उपासक मौजूद थे। और इतनी दूर

से वे उन्हें अपनी भक्ति पुष्पाजलि समर्पण करने को उनके पास पहुँचते थे। यह दूसरी बात है कि जिस समय उनके जीवन-नाटक का अंतिम पर्दा गिरा, उस समय उनकी बन्द होती हुई आँखों को एक भी दर्शक नजर न आया। आश्चर्य की बात है कि ऐसे परम प्रसिद्ध पुरुष के जीवन का इति-वृत्त ससार में किसी को मालूम नहीं। इतने राजाओं-महाराजाओं, सेठ-साहूकारों, हाकिम-हुक्कामों में उनकी मित्रता हुई; देश-विदेश के इतने यात्रियों, व्यवसायियों और साहित्यिकों को* जेकब से मिलने और घटो वात्तालाप करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ; पर उन्होंने इस विषय में कभी किसी से एक शब्द तक न कहा कि उनका शैशव कहाँ व्यतीत हुआ, वह कहाँ से और कैसे भारतवर्ष आये और क्योंकर यहाँ बात की बात में कुबेर के ऐसे कृपापात्र बन गये। पूछने पर वे टालमटोल कर देते। कह देते—मैं कुछ जानता ही नहीं। उनके विषय में अनेक अनुसन्धान हुए, उनके प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में दो-एक मोटी बातों का पता भी लगा—पर स्वयं उन्होंने इस कार्य में न तो किसी की कुछ सहायता की, न यह बताया कि उस उपलब्ध इतिहास में सत्य का अंश कितना था।

जेकब के जीवन का जो भाग भारतवर्ष के बाहर व्यतीत हुआ था, उस पर आज तक विशेष प्रकाश न पड़ सका। जेकब अपने को तुर्क बताते थे, यद्यपि वह थे यहूदी धर्म के माननेवाले। उनका जन्म कुस्तुन्तुनिया के आसपास किसी स्थान में हुआ था। बचपन उन्होंने इटली में और बाद में तुर्की में बिताया। उनके माँ-बाप हृद से ज्यादा गरीब थे। उनसे इस बालक का भरण-पोषण न हो सका। जिस समय उनकी अवस्था दस बरस की थी, उस समय उन्होंने उसे

* मेरियन क्राफोर्ड के Issacs नामक उपन्यास के नायक जेकब ही हैं। क्पिलिंग न भी अपने Kin में उन्हें लरगन साहब (Lurgan Sahib) के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया है—लेखक।

दास के रूप में किसी धनी पाशा के हाथ बँच दिया। जेकब तीक्ष्ण-बुद्धि बालक था। कर्त्तव्यनिष्ठ भी वह खूब था। उसने अपने गुणों के कारण अपने मालिक के हृदय में घर कर लिया। वह पाशा उसके साथ और क्रीत दासों की तरह व्यवहार न करता। वह एक रोज जेकब को मकतब में बिठा आया, और घर पर भी उसके पढ़ने लिखने का सुभीता कर दिया। जेकब ने उसके आश्रय में रहकर तुर्की भाषा और साहित्य में अच्छी व्युत्पत्ति प्राप्त की। इस अध्ययन-काल में ही उसे तंत्र-मंत्र से बड़ा प्रेम हो गया, और वह खोज-खोज कर इस विद्या के जाननेवालों की सगति करने लगा।

मालिक के मर जाने पर जेकब को गुलामी से रिहाई मिली। वह अपने भाग्य की आजमाइश करने के लिए दुनिया देखना चाहता था। हज के यात्री के वेश में वह मक्का होता हुआ जद्दा नामक स्थान में पहुँचा। वहाँ से किसी प्रकार बम्बई आया। उस समय उसके पास फूटी कौड़ी न थी। वहाँ उसे बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

जेकब को अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान था। उसने इस आपत्काल में उसका बड़ा उपकार किया। हैदराबाद में किसी रईस को एक अरबी जाननेवाले की जरूरत थी। जेकब को यह मालूम हुआ और वह उसके यहाँ जा हाजिर हुए। उन्हें नौकरी जाते ही मिल गई। जेकब हैदराबाद में एक बरस भी न रहने पाये थे कि उनके संबंध में तरह-तरह की अफवाहें फैलने लगीं। कोई कहता वह जादूगर है, कोई कहता वह पहुँचे हुए फकीर हैं। बात अचरज की थी भी। जिस समय वह हैदराबाद पहुँचे थे, उस समय खाली हाथ थे। पर एक ही दो बरस बाद उनकी लाखों की हैसियत हो गई, उनके पास रत्नों का अपूर्व संग्रह हो गया। जेकब को यह रत्न-राशि कहाँ और कैसे मिली, आज तक इसका पता न लग सका। पर लोगों का विश्वास था कि जेकब में पदार्थों को एक स्थान से उड़ाकर दूसरे स्थान में पहुँचा देने की शक्ति थी।

अब उन्हें नौकरी करने की क्या जरूरत थी। जेकब हैदराबाद से दिल्ली चले गये और वही उन्होंने चाँदनी चौक में हीरे-जवाहरात की दूकान खोली। उनका व्यवसाय चल निकला। पर दिल्ली में उन्हें कार्य-क्षेत्र संकुचित दीख पड़ा। इससे कुछ बरस बाद वह वहाँ से अपनी दूकान उठाकर शिमले ले गये। तब से जब तक व्यवसाय चला, वहीं रहे। शिमले से ही जेकब की कीर्ति-कौमुदी दिग्दिगन्त में फैली थी। वहाँ उन्होंने लाखों-करोड़ों रुपये पैदा किये। शाही ठाट-बाट से रहते थे। रोज ही उनके यहाँ बड़े-से-बड़े लोगो का आना जाना होता, उनकी आव-भगत में हजारों रुपये खर्च होते। यात्रियों और व्यवसायियों की बराबर भीड़ ही लगी रहती। रात भर जेकब अपने मेहमानों से तरह-तरह के विषयों—विशेषतापूर्वक पिशाच-विद्या पर बातें करते, और सारा समय इसके साथ खान-पान भी जारी रहता।

जेकब हीरे-जवाहरात के बड़े ही अच्छे पारखी थे। उनका व्यवसाय-सबध दूर-दूर के धनाधीनो से था। उच्च-से-उच्च शासको से उनकी घनिष्ठता थी। शिमले में उनका निवासस्थल 'बलबीडियर' था। उनके मकान की सजावट देखते ही बनती थी, यद्यपि उसको सजाने में उन्होंने पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण नहीं किया था। जिस कमरे में वह सम्भ्रान्त व्यक्तियों से मिलते थे, वह रत्नों से जगमगाता रहता था। पर इतना सब कुछ होने पर भी जेकब सादगी के अवतार थे। उनका सयम देखकर लोग आश्चर्य करते। शराब-कबाब उन्होंने हाथ से न छुआ। सिगरेट तक न पीते थे। अस्तबल में अच्छे-से-अच्छे घोड़े मौजूद रहते हुए भी, वह खुद एक पहाड़ी टाघन पर ही सवारी करते थे।

बरसों यही सिलसिला जारी रहा। अंत में एक दिन ऐसा भी आया जब मिस्टर जेकब पर सहसा विपत्ति के बादल उमड़ पड़े और सब के देखते-ही-देखते उनकी सारी सम्पत्ति न मालूम कहाँ विलीन हो गई। न उसे किसी ने आते देखा था, न किसी ने जाते देखा। खाली हाथ से

वह जहाज से बंबई में उतरे थे, और फिर खाली हाथ बम्बई में जाकर अपना जीवन व्यतीत करने लगे। कारण यह था—

शिमले में जेकब को एक दिन समाचार मिला कि प्रसिद्ध 'इम्पीरियल' नामक हीरा इस देश में बिकनेवाला है। समाचार पाते ही वह तत्कालीन निजाम सर महबूब अली खा से जा मिले और उन्हें वह हीरा खरीदने को राजी कर लिया। निजाम ने उस हीरे के लिए ४० लाख रुपया देना मजूर किया। आधा दाम उन्होंने जेकब को दे भी दिया। पर जेकब को वह हीरा २० लाख में ही मिल गया, और वह निजाम से पूरा दाम अर्थात् ४० लाख माँगने लगे। उधर निजाम को जब हकीकत मालूम हुई, तब वह उस सौदे से ही नट गये। उल्टे जेकब पर दरबार से दगाबाजी कर २० लाख रुपये ले जाने का इल्जाम लगाया। कलकत्ता हाईकोर्ट में मामला चला। दुनिया भर में सनसनी फैल गई। जिस वक्त मुकदमा खुला, हाईकोर्ट में कहीं तिल रखने की जगह न थी। लगातार ५७ दिनों तक मामला चला और बराबर यही हाल रहा। दोनों ओर के लाखों रुपये खर्च हो गये। हाईकोर्ट के फैसले से जेकब निरपराध साबित हुए, पर इस मुकदमे ने उन्हें बरबाद कर डाला। उनका कहना था कि निजाम १७ लाख में सौदा करने को तैयार हो गये थे, पर चूंकि सरकारी अदालतों का देशी राज्यों में जोर नहीं पहुँचता, वे दरबार पर नालिश न कर सके। जेकब पर दगा साबित न हुई, पर निजाम के रुपये की डिग्री चुकाने के लिये उन्हें अपना लाखों का माल बेचना पड़ा। यही उनके सर्वनाश का सक्षिप्त इतिहास है। जिस समय जेकब का सितारा आसमान में ऊँची से ऊँची जगह पर था उस समय बड़े लाट इत्यादि से उनका हेलमेल देखकर कुछ लोग सदेह करते थे कि वे भारत सरकार के भेदिया थे। कहा जाता है कि उनके जरिये सरकार को भारी-से-भारी भेद मालूम हो जाते हैं, और इसलिए सरकार से उन्हें साल में लाखों रुपये जरूरी खर्च करने को मिलते हैं। बात निराधार थी।

हेलमेल का कारण उनका सम्पत्तिशाली होना था, पर जेकब शिमले आने के बहुत पहले सुख-समृद्धि के शिखर पर पहुँच चुके थे। बल्कि उन्हे आजन्म इस बात की शिकायत रही कि हैदराबाद वाले मामले में भारत सरकार ने ही निजाम को उभाड़ा था। किसी उच्चातिउच्च पदाधिकारी से उनका किसी कारण वैमनस्य हो गया था, और उसने यह मौका पाकर उनसे बदला लिया था। उनकी उन्नति का रहस्य किसी की समझ में न आया, और यही कारण है कि उनके संबंध में तरह तरह की अफवाहे उड़ती रहती थी।

मुकदमे से छुटकारा पाकर, उसकी आग में अपने धन-रत्न-समूह की आहुति देकर, जेकब बम्बई चले गये। उस समय उनकी अवस्था कितनी शोचनीय रही होगी, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। निजाम को उन पर बड़ी दया आयी और उन्होंने जिन्दगी भर के लिए उनकी एक पेंशन मुकर्रर कर दी। उसी पर जेकब ने अपना शेष जीवन बिताया।

५५ वर्ष की अवस्था में जेकब अपनी संपत्ति से हाथ धोकर और उसकी स्मृतिमात्र अपने साथ लेकर बम्बई गये थे। मरने के समय उनकी अवस्था ७१ बरस की थी। उनके ये १६ बरस बम्बई से थोड़ी दूर पर एकान्तवास में बीते। वहाँ जो उनसे मिलने जाते थे, उनका कहना था कि जेकब के स्वभाव पर इस अवस्थान्तर का कुछ भी असर न पड़ा था। वह अब भी पहले की तरह हँसमुख और मिलनसार थे। उस मुकदमे की चर्चा चलने पर कहते कि हमारी आत्मा के विकास के लिए हमारा फिर निर्धन होना आवश्यक था। अपने मित्रों से उन्होंने कई बार यह भी कहा था कि हम मृत्यु के रहस्य के संबंध में अनुसन्धान कर रहे हैं और कुछ गूढ़ तत्वों का आविष्कार भी कर लिया है। डायरी वह इस समय भी नियमित रूप से लिखते थे, और लोगों को यह आशा थी कि वह कभी प्रकाशित होगी और उससे उन आविष्कारों पर प्रकाश पड़ेगा। पर, यद्यपि उन्हें मरे प्रायः तीन

बरस होने आये, आज तक उस डायरी के विषय में कुछ सुनने में न आया।

जेकब के मरने पर, उनके व्यक्तित्व-विषयक जो लेख या पत्र प्रकाशित हुए थे, उसमें कुछ बड़े ही मनोरंजक थे। उनकी अद्भुत शक्तियों के सबध में एक अंगरेज लेखक का अनुभव सुनने लायक है। उससे जेकब की पुरानी जान-पहिचान थी। एक बार वह उनसे मिलने बम्बई गया। वहाँ किसी होटल में उतरा, और दूसरे दिन भाड़े की गाड़ी में बैठ जेकब के स्थान पर जा उपस्थित हुआ। जेकब ने बड़ी हार्दिकता से उसका स्वागत-सम्मान किया। घंटो दोनों की बातें होती रही। जब उनके मित्र ने चलने की इच्छा प्रकट की, तब जेकब ने कहा—अपनी आँखें बन्द कर लो। उसने आँखें बन्द कर ली। फिर उसे किसी की आवाज सुनाई पड़ी कि आँखें खोलो। जो खोलता है तो देखता है कि वह होटल में अपने कमरे में बैठा हुआ है। और गाड़ीवाला उससे भाड़ा माँग रहा है। उसने घड़ी देखी तो आने में एक मिनट की भी देर न हुई थी। गाड़ीवाला भी हैरान था कि वह वहाँ कब और कैसे गाड़ी समेत आ गया।

अंगरेजी में कहते हैं कि प्रकृत-जीवन की बातें कभी-कभी किस्से-कहानी की बातों से भी अधिक आश्चर्योत्पादक होती हैं। जेकब का जीवन इस युक्ति की सत्यता का बड़ा अच्छा प्रमाण था। पर इसका क्या कारण है कि उनके उत्थान और पतन, और पतन के बाद के जीवन से भी हैदराबाद का ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध था?

('सरस्वती', नवम्बर १९२३ ई०)

मोती

समाचार-पत्रों के पाठकों को मालूम होगा कि कुछ समय पहले विलायत में मोतियों के सबध में एक बड़ी सनसनी फैल गई थी। लन्दन के बाजार में कुछ समय से एक खास प्रकार के जापानी मोती विकने लगे हैं। अफवाह उड़ी है कि ये मोती कृत्रिम हैं, प्राकृतिक नहीं। वस मोती के मालिकों और व्यवसायियों के होश काफूर हो गये, क्योंकि उनकी कृत्रिमता का न तो कोई प्रमाण था, न पहचान थी। क्षीर-नीर का विवेक हो तो कैसे हो? खैर।

*

*

*

मोतियों की पैदाइश विशेषतः कुछ ऐसी सीपियों से होती है जो नातिशीतोष्ण प्रदेश के समुद्रों में पाई जाती है। सीपी के शरीर के दो भाग होते हैं—एक कोमल, दूसरा कड़ा। वास्तव में कोमल भाग ही शरीर है—कड़ा भाग तो उसका आवरणमात्र है। इस कोमल भाग में समुद्र जल से 'कैल्शियम कार्बोनेट' नामक रासायनिक पदार्थ अलग कर देने की क्षमता है। इसी पृथक्कृत पदार्थ से उसके कड़े आवरण की सृष्टि होती है, और यह बात प्रत्येक सीपी में पाई जाती है। सच पूछिये तो जब तक यह अवस्था जारी रहती है, तब तक मोती नहीं बनता। मोती का निर्माण सीपी के जीवन में एक असाधारण घटना है। सीपी के पेट में स्वाती नक्षत्र की जल-बूद पहुँचने से मोती बनता है—यह बात हमसे बहुतो ने सुनी होगी। समीक्षा और परीक्षा से मालूम होता है कि तीस-चालीस सीपियों के बीच एक के ही पेट में मोती मिलता है। तो बात क्या है? स्वाती नक्षत्रवाली बात में प्रकारान्तर से बहुत कुछ सत्यता है। यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि सीपी के पेट में किसी बाहरी वस्तु के प्रवेश होने या उसमें किसी प्रकार की उत्तेजना पहुँचने या विकार उत्पन्न होने से ही वहाँ मोती की सृष्टि

शुरू होती है। हो सकता है उसके पेट में बालू का एक कण पहुँच गया हो, संभव है कोई कीटाणु वहाँ जाकर उसे पीड़ा पहुँचा रहा हो। मोटी बात यह है कि सीपी उस दर्द को दूर करने के लिए उम स्थान को एक पदार्थ-विशेष से घेरना शुरू कर देती है। यह पदार्थ क्रमशः गोल रूप धारण करता जाता है और अन्त में यही मोती कहलाता है। रासायनिक दृष्टि से यह मुख्यतः कैल्शियम कार्बोनेट है और पदार्थों में सीपी की श्रेणी का है। सीपी के पेट में जितने विकार उत्पन्न होंगे उतने ही मोती भी बनेंगे। भारत महासागर की एक सीपी से ८७ मोती निकले थे। सीलोन की एक सीपी के पेट में ६७ मोती थे।

समुद्र के एक अच्छे मोती का विशिष्ट गुणत्व २.६८६ होता है। एसिड में मोती गल जाते हैं। किस्सा है कि 'मिस्र देश की रानी क्लियोपेट्रा एक बड़े मोती को सिरके (Vinegar) में गला कर पी गई थी।

मोती विभिन्न आकार के होते हैं—कोई गोल, कोई अडाकार और कोई नाशपाती की सी शकल का। उनके रंग भी तरह-तरह के होते हैं। पर उनका सबसे बड़ा गुण उनकी दमक है। मेक्सिको के मुहाने में काले मोती मिलते हैं। धनी लोग उन्हें श्राद्धकाल में पहनते हैं, पर यदि उनकी दमक ठीक हो तो वे भी उतने ही महंगे बिकते हैं जितने कि सफेद मोती। अच्छे मोती में दाग दरार न होनी चाहिये। और जवाहरात की अपेक्षा मोती जल्द नष्ट हो जाते हैं। हीरा खरादने से दीप्तिमान बनाया जा सकता है, मोती नहीं। पुराने मोतियों में चमक-दमक लाने के लिए कुछ लोग उन्हें समुद्र-जल में डुबो देते हैं, कोई-कोई उन्हें मुगियों और बतखों से निगलवाते हैं, पर सच पूछा जाय तो ऐसे प्रयत्न आज तक सफल नहीं हुए। अतएव मोतियों को बड़े यत्न से रखना चाहिये, पसीने और संघर्षण से जहाँ तक हो सके उनकी रक्षा करनी चाहिये।

मोतियों का आकार-प्रकार एक नहीं होता। हाँ बड़े आकार-प्रकार

के मोती कम मिलते हैं। १९०३ ई० में ईरान के शाह के पास एक मोती था जिसकी लंबाई थी ३५ मिलिमीटर और मोटाई २५ मिलिमीटर। लड़ाई के पहले आस्ट्रिया के बादशाह के कुण्डल में एक मोती ३०० कराट वजन का था। मास्को के अजायबघर में २८ कराट वजन का एक बिलकुल गोल सफेद मोती है। यह भारत महासागर में मिला था। आस्ट्रेलिया के पास १८८६ ई० में नौ बड़े और सफेद मोती एक 'क्रास' के रूप में जुड़े हुए मिले थे। इनकी कीमत कूती गई थी १०,००० पाउंड। हेनरी फिलिप होप नामक एक साहब के पास एक मोती ४५४ कराट वजन का था।

आभूषणों के अलावा मोती दवा के काम भी आते हैं।

सुश्रुत में मोतियो का जिक्र है। आयुर्वेद के अनुसार यह पहले जयन्ती के पत्रो या बकपुष्पो के साथ उबालकर शुद्ध किये जाते हैं। फिर इनका चूर्ण बनाया जाता है। मोती की भस्म, मूंगे की भस्म के साथ विशेषतः बहु-मूत्र रोग और क्षयरोग में दी जाती है। यूनानी हकीम भी इसे कई बीमारियों में देते हैं। उनका विश्वास है कि यदि अपरिपक्वावस्था वाले मोती का लेप किया जाय, तो कुष्ठ रोग दूर हो सकता है। कुछ लक्ष्मी के लाल मोती-भस्म का, पान में चूने की जगह, व्यवहार करते हैं।

अति प्राचीन काल से ईरान की खाड़ी में मोतीवाली सीपियाँ मिलती हैं। इस व्यवसाय का प्रधान केन्द्र लका है। यहाँ के मोती कुछ पीलापन लिये होते हैं। उनकी खपत विशेषतः बंबई में होती है।

पर व्यवसाय की दृष्टि से सीपी-संग्रह का मुख्य स्थान है मनार की खाड़ी, भारत महासागर में, भारत और लका द्वीप के बीच। वहाँ समुद्र में तटभूमि से ६ और १२ मील के फासले पर बहुत-सी रेतियाँ पड़ गई हैं और उनका सिलसिला लंबाई में ९० मील तक चला गया है। यही रेतियाँ सीपियों की निवास-भूमि हैं। सीपियाँ कुछ लेबे तंतुओं के सहारे उनसे लटकी रहती हैं। साधारणतः वे जल की

सतह से ३० और ६० फुट के बीच नीचे रहती है। पर वे सदा एक ही जगह नहीं रहती और यही कारण है कि कभी-कभी उनका पता लगाना असंभव हो जाता है।

इस प्रदेश में सीपी-संग्रह का काम कब शुरू हुआ, यह कोई नहीं जानता। किसी समय यहाँ इस व्यवसाय में ८ हजार नौकाएँ लगी थी।

१६वीं सदी में इस प्रदेश पर पोर्तुगीजों का अधिकार था। फिर डचों का अधिकार हुआ। ब्रिटिश आधिपत्य १७९४ से प्रारम्भ होता है। सरकार को इस समय इस व्यवसाय में खासा लाभ है।

सीपी-संग्रह की जो रीति इस समय प्रचलित है वह बहुत-बहुत पुरानी है। काम मार्च मास में शुरू होता है और करीब ६ हफ्ते तक जारी रहता है। ६० से ७० नावें एक साथ काम करती हैं। सभी आधी रात को तट से खाना होती हैं और सुबह होते-होते सीपियों की रेतियों के पास पहुँच जाती हैं। नाव पर एक व्यक्ति ऐसा अवश्य रहता है जो मगरों को मंत्र-मुग्ध करना जानता है। कम-से कम डुबकी लगानेवालों का उसमें अन्धविश्वास होता है और बिना उसे नाव पर लिये वे जल में डुबकी लगाने का साहस नहीं कर सकते। कार्य-समय होने पर एक घड़ाके की आवाज होती है और डुबकी लगानेवाले अपना काम शुरू कर देते हैं। एक मोटे रस्से में करीब आधे मन का एक पत्थर बंधा रहता है। उसी को पकड़कर गोताखोर नीचे जाता है। दूसरा नाव पर रस्से की निगरानी करता है। हृद से हृद गोताखोर नीचे ८० सेकेंड तक रहते हैं, यद्यपि कोई-कोई ६ मिनट तक भी रह गये हैं। एक मनुष्य दिन भर में ४० से ५० डुबकियाँ लगाता है और एक नाव रोज करीब २० हजार सीपियाँ संग्रह करती है। दोपहर को फिर एक घड़ाका होता है और काम बंद हो जाता है। नावें लौटती हैं। किनारे पर आकर सीपियाँ भूमि पर फैला दी जाती हैं। चतुर्थांश गोताखोरों को दे दिया जाता है।

जब सीपियाँ खूब सड़ जाती हैं, तब उनके भीतर से खोज-खोजकर मोती निकाले जाते हैं। फिर वे रूप-रंग, आकार-प्रकार के अनुसार अलग किये जाते हैं और नीलाम कर दिये जाते हैं।

मनार की खाड़ी के अलावा सीपिया और स्थानों में भी मिलती हैं। जर्मनी, इंग्लैण्ड और चीन में एक खास तरह की मछली के पेट से भी छोटे मोती निकलते हैं। १९१९ ई० में लिवरपूल में पता लगा था कि कुछ जानवरो के सड़े मांस में भी बहुत छोटे छोटे मोती पाये जाते हैं।

बर्मा तट पर यगुई द्वीपपुज के पास भी सीपी-सग्रह का काम होता है। आजकल वह व्यवसाय विशेषतः जापानियों के हाथ में है। १९१२ और १९१७ के बीच वहाँ करीब ढाई लाख के मोती निकले थे। भारतवर्ष में मोतियों के लिए प्रधान स्थान बम्बई है।

अब जापान के कृत्रिम मोतियों के सम्बन्ध में दो-चार बातें लिखी जाती हैं। ऊपर कहा जा चुका है कि सीपी के पेट में विकार की उत्पत्ति ही मोती के निर्माण का एकमात्र कारण है। कई सौ बरस पहले चीन-निवासियों ने सोचा कि यदि मोती की माँ के पेट में यह विकार प्रकृति उत्पन्न कर सकती है, तो मनुष्य क्यों नहीं कर सकता? तब से वे बराबर अपने यहाँ के मत्स्य-विशेष के पेट में प्रयोग-विशेष द्वारा विकार उत्पन्न कर उससे छोटे-छोटे मोती प्राप्त करते आ रहे हैं। १८७९ ई० में मिस्टर कोकीयी मिमिमोटो नामक एक जापानी व्यवसायी और वैज्ञानिक का ध्यान इस ओर गया। १८९० में उन्होंने इस प्रक्रिया से कुछ मोती तैयार भी किये और टोकियो की प्रदर्शनी में उन्हें दिखाया। पर पूर्ण सफलता उन्हें अभी प्राप्त न हुई थी, इसलिए परीक्षा में बहुत समय और धन खर्च करने के बाद आज से ६-७ वर्ष पहले उनका अभीष्ट सिद्ध हुआ और तब से बाजार में ऐसे कृत्रिम मोती चलने लगे। इंग्लैण्ड में उन्होंने पारसाल अपना माल बेचना शुरू किया।

जापान के कई द्वीपों के पास मिस्टर मिमिमोटो ने जल और स्थल

का बहुत-सा भाग ले रक्खा है। वहा सीपी-संग्रह का काम बालिकायें करती हैं। जुलाई और अगस्त में वे सीपियों की रेतियों पर पत्थर के छोटे-बड़े टुकड़े रख देती हैं। कुछ काल में उनके चारों ओर सीपियाँ लग जाती हैं। फिर वे टुकड़े हटाकर गहरे पानी में रखे जाते हैं और वहाँ तीन बरस तक रहते हैं। बाद को वे वैज्ञानिक प्रयोगशाला में लाये जाते हैं। वैज्ञानिक सूक्ष्म प्रयोग द्वारा प्रत्येक सीपी के पेट में सीप नामक पदार्थ का एक छोटा-सा कण रख देता है। बस, बाकी काम सीपी आप ही कर लेती हैं, और चार बरस के बाद मोती तैयार हो जाता है। इस बीच में सीपियाँ समुद्र में ही रहती हैं। काम अच्छे मुनाफे का है, पर झूझ भी बहुत है। कई दफे सीपियाँ समुद्र से निकाली और उसमें रखी जाती हैं। सात बरस तक मोती की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इस बीच में कितनी ही सीपियाँ मर जाती हैं, कितनी ही लापता हो जाती हैं। मिस्टर मिकिमोटो ने अपने सारे प्रयोगों का हाल गुप्त रक्खा है। सीलोन की एक विलायती कंपनी ने उनसे कुछ सीखने की चेष्टा की थी, पर उन्होंने कुछ सिखाया नहीं। आज तक ससार में यह किसी को नहीं मालूम कि मिस्टर मिकिमोटो रगीन मोती कैसे तैयार करते हैं। उनकी प्रयोगशाला के रहस्यों का पता कोई भी न पा सका।

इधर विलायत में कृत्रिम और प्राकृतिक मोतियों की पहचान की बड़ी चेष्टाये हो रही हैं। पहले कहा गया था कि एक्स किरणों की सहायता से कृत्रिम मोती पहचाने जा सकते हैं, पर बात झूठी साबित हुई। वास्तव में दोनों का सादृश्य विलक्षण है। और क्यों न हो? सीपी के पेट में विकार उत्पन्न होने से प्राकृतिक मोती निकलते हैं और कृत्रिम भी। फर्क यही है कि पहले में विकार प्रकृति उत्पन्न करती है और दूसरे में मनुष्य। और यही कारण है कि बहुत-से लोग कृत्रिम को नकली कहना भी नहीं चाहते।

हृदय में रत्न धारण करने के कारण सीपी को काल-कवलित होना

पड़ता है। बहुत पहले एक अंग्रेज कवि ने दर्द भरे दिल के साथ यह पूछा था कि—

इटली ! इटली ! इतनी छवि क्यों,
धारण की तुमने हा, हन्त !

हाल में एक ईरानी कवि को इस चिन्ता से मर्मन्तिक पीड़ा हुई है—

धूल जहाँ की कस्तूरी से, अधिक सुगंधित होती ।
जिसके स्थल-जल में मिलते हैं, ढेर ढेर मणि-मोती ।
उसी देश का आज विदेशी, आपस में बटवारा ।
करने जाते—खड़ा देखता, मुल्क तमाशा सारा ।

पर सीपी-सा अभागा संसार में न तो कोई जीव है न देश । मोती के प्रसंग में प्रियप्रवास की यह उक्ति बिना याद आये नहीं रहती—

ऊँची, सीपी-सदृश न कभी, भाग्य फूटे किसी का ।
मोती जैसा रत्न अपना, आह ! कोई न खोवे ।

(सरस्वती अगस्त १९३१)

—

अकबर का खान-पान

जगदीश्वर की बात जगदीश्वर जाने, पर दिल्लीश्वर तो कोई ऐसा न हो सका, जिसने भूख-प्यास को जीत लिया हो और जिसके सामने खान-पान का प्रश्न उपस्थित ही न हुआ हो। इस विषय में सभी एक-मे हुए हैं और अकबर भी इस नियम का अपवाद न था। उसके सामने शासन-सम्बन्धी गहन समस्याये थी, मेवाड़ के पहाड़ और राणा प्रताप थे, दरबार के 'नौरत्नों' में एक ओर अबुलफजल, फंजी, तानसेन और बीरबल थे तो दूसरी ओर अब्दुल कादिर बदायुनी भी थे। पर इनके साथ ही भूख थी, प्यास थी, मीरबकावल था, आवदारखाना था। यह असम्भव था कि उसका ध्यान चूल्हा-चक्की की ओर न जाता। 'आईने अकबरी' में लिखा है—“बादशाह सलामत की नजर इस ओर भी रहती है, और क्यों न रहे। मनुष्य की विवेक-बुद्धि, आचार-व्यवहार, धर्म-कर्म—सब का आधार हितकर भोजन है। खाने-पीने में मनुष्य और पशु समान है। मनुष्य की विशेषता है तो यही कि वह यह जान सकता है कि कौन-सी वस्तु उसके लिए स्वास्थ्यकर है।” अबुलफजल की बात का खंडन करने का साहस नहीं होता, पर हम पूछ सकते हैं कि क्या सचमुच मनुष्य ऐसी विशेषता रखता है ?

अकबर का नियम २४ घंटे में एक बार भोजन करने का था—सो भी बहुत हल्का भोजन। उसकी दिनचर्या में त्रुटि थी, तो यही कि उसका भोजन-काल नियत न था। समय प्रायः कुछ इधर-उधर हो जाता। बावर्चीखाने में बड़े अनुभवी और विश्वासपात्र कर्मचारी रखे जाते थे, और स्वयं प्रधान मंत्री को इसकी देख-भाल करनी पड़ती थी। प्रधान कर्मचारी मीरबकावल के कई सहायक होते, और इनमें कुछ का काम खाली जायका देखना था। बावर्चीखाना क्या था, खासा महकमा था। देश-देश के बावर्ची, बकावल थे, खजान्ची तहवीलदार थे, मुहरीर

मीरमुशी थे। 'आईन' के आधार पर विभाग का कुछ विवरण नीचे दिया जाता है, पर इसके पहले दो-एक और बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

अकबर ने मांस की मात्रा धीरे-धीरे कम कर दी थी और अन्त में इसे बिल्कुल ही छोड़ दिया था। यह विशेषतः जैन-धर्म को हृदयगम करने का फल था। 'आईन' के रचना-काल तक अकबर निरामिष-भोजी न बन सका था, पर उसकी प्रवृत्ति उसी ओर थी। जान पड़ता है अबुलफजल पहले से ही निरामिष-भोजी था। 'आईन' में उसने उन दिनों की तालिका दी है, जो अकबर के लिए मास से परहेज के दिन थे, और इस प्रसंग में लिखा है—“बादशाह सलामत ने अभी मांस का परित्याग नहीं किया है, पर करने की राह पर हैं। इस समय भी वह उसमें किसी प्रकार की आसक्ति नहीं दिखाते। इतने प्रकार के खाद्य पदार्थों के होते हुए भी मनुष्य पशुओं की जान लेने और उन्हें उदरस्थ करने के लिए जो तत्परता दिखाता है, उसका कारण अज्ञान और क्रूरता है। कितने दुःख की बात है कि लोग दया या अहिंसा के नैसर्गिक सौन्दर्य या महत्व को नहीं देख सकते। और अपने पेट को जानवरों की कब्र बना लेते हैं। सम्राट् पर संसार का शासन-भार न होता, तो वह आज ही मासाहार करना छोड़ देते, फिर भी उनका विचार धीरे-धीरे छोड़ देने का है।” स्वयं सम्राट् की एक उक्ति उद्धृत है—“काश कि मेरा शरीर इतना हृष्ट-पुष्ट होता कि मैं इसे मांसाहारियों की सेवामें प्रस्तुत कर उन्हें और जीवों की हत्या करने से रोक सकता !” यहाँ उन्होंने यह इच्छा भी प्रकट की है कि जो अंग काटकर वह मांसाहारियों को दें, वह फिरसे जुट जाय, पर यह उद्गार इस बात का प्रमाण है कि वह अब पूरे शाकाहारी बन गये थे, या 'आईन' के शब्द में, यों कहें कि उनका खाना 'सूफियाना'—सूफियों का-सा—हो चुका था।

अकबर को फलों से बड़ा प्रेम था—खासकर अंगूर और खरबूजे

से। उसके समय में उद्यान-कला की बड़ी उन्नति हुई, और दूर-दूर देशों के माली यहाँ आ बसे। बाजार में साल भर फल बिकते थे। काबुल और कन्धार की तो बात ही क्या, समरकन्द तक से चीजे नियमित रूप से पहुँचती थी, और सेब तो कभी-कभी यूरोप से भी मँगाये जाते थे। 'आईन' में लिखा है कि आड़ू, बादाम, पिस्ता, अनार, तरबूज हर जगह मिलते हैं। जिस समय बादशाह सलामत प्याले को याद करते थे, उस समय साकी के साथ फल पहुँचाने वालों को भी हाजिर होना पड़ता था। अबुलफजल ने प्रायः अस्सी फलों के नाम और दाम दिये हैं। इससे जान पड़ता है कि सम्राट् के सामने कितने फल पहुँचते होंगे, पर वह स्वयं बहुत थोड़ा खाते थे, इसलिए प्रायः सारा-का-सारा गरीबों के हिस्से में पड़ता था।

साल शुरू होते ही बावर्चीखाने का बजट तैयार होता। खजाने से जो रुपये की थैलिया आती, वे मुहरबन्द कर रख दी जाती और आवश्यकतानुसार उनमें से खर्च किया जाता। सब चीजों के नमूने स्टोर में मौजूद रहने और उन्हीं से मिलाकर खरीद होती। 'सुखदास' चावल बहराइच से मँगाया जाता, 'देवजीरा' चावल ब्वालियर से और घी हिसार से। साग-सब्जी कुछ तो बाजार से मँगाई जाती और कुछ शाही बगीचे से। मीरबकावल और मीरमुंशी को कई विवरण-पत्र तैयार करने पड़ते—कौन सामान कितना सर्फ हुआ, किसमें कितना खर्च हुआ, कहाँ से क्या मँगाना है, इत्यादि। इस विभाग में बिना जमानत के किसी की नियुक्ति नहीं हो सकती थी और जिसकी सचाई पर जरा भी सन्देह होता या जो काम में ढीला पाया जाता, उसकी बहा से उसी वक्त बिदाई कर दी जाती।

अकबर के भोजन का विवरण 'आईन' में यों मिलता है :— बकावल और मीरबकावल यह जानना चाहते हैं कि बादशाह सलामत खाना कब तलब करते हैं। इतने में खबर मिली कि घटे भर के भीतर सब कुछ तैयार हो जाय। सब लोग झटपट बाकी काम

पूरा करने में लग पड़े। पहले बावर्ची या बकावल को चीजे पास करनी पड़ी, फिर मीरबकावल को। आखिरी सनद मिल जाने पर पकवानों की सजावट हुई। कोई चीज सोने चाँदी के तश्त में रखी गयी, कोई तश्तरी में। खटाई, चटनी इत्यादि के लिए और ही बर्तन काम में लाये गये। फिर सब चीजे मीरबकावल के पास पहुँचाई गयी और वहाँ उनकी "पैकिंग" हुई। मीरबकावल ने हर तश्तपोश पर अपनी मुहर लगाई और लिख दिया कि इसमें क्या चीज है। फिर सब की एक फेहरिस्त और बनी, और मुहरबन्द कर महल में पहुँचाई गयी। पकवान भी भेजे गये। आगे-पीछे चोबदार है, बीच में तश्तबरदार। कोई बाहरी आदमी उनके पास नहीं फटक सकता। सम्राट् शाकाहारी बन गये हैं, इस कारण उनकी भोजन-सामग्री में माँस को कहीं स्थान नहीं है। (काबुली, कीमा पुलाव, बघरा, कीमा शोरवा, हरीसा, कश्क, हलीम, बिरियाँ, दज्दबिरिया, कबाब, मुसम्माँ, दोपियाजा, दमपुस्त, कलिया, मलघ्वा शायद अब भी—'आईने अकबरी' में बताई हुई विधि से तैयार होते हैं, पर जलालुद्दीन अकबर के लिये नहीं।) उनके लिये बनी हुई चीजों में ज़र्द बिरिज, खुश्का, खिचड़ी, शीर बिरिज, बादिजान, थूली, साग, हलवा इत्यादि हैं, जिनके विवरण के लिए लोग 'आईन' को देख सकते हैं। एक ओर से ये चीजे आई और दूसरी ओर से मुहरबन्द थैलो में गरमागरम रोटी या चपाती। रोटी के लिए आटा कभी महीन बर्ता जाता है कभी कुछ मोटा। महीन आटे का अर्थ 'आईन' के अनुसार है मन-भर गेहूँ का बीस सेर आटा। रोटी के साथ उम्दा-से-उम्दा दही, अचार, अदरक, नीबू और हरी पत्तियाँ भी आ पहुँची। परीक्षकों ने फिर सब चीजों की खाकर परीक्षा की। इसके बाद दस्तर-खान बिछते ही बादशाह सलामत आ बैठे और उनके सामने सब चीजे सजा दी गयी। आपने अपने दरवेशों का हिस्सा अलग निकाल कर खाना शुरू किया। अपने नियमानुसार आपने कुछ दूध या दही ग्रहण कर फिर और चीजों की ओर ध्यान दिया। पर अल्पाहारी होने

के कारण आपको भोजन करते देर न लगी। मुंह हाथ धोकर आप नमाज पढ़ने लगे और नौकर दस्तरखान उठाने में लग गये। आज दिन का भोजन-प्रकरण इस प्रकार समाप्त हुआ।

‘आईन’ में इस प्रश्न का भी उत्तर मिलता है कि अकबर पीता क्या था ? चाहे कही हो, उसके पीने के लिए बराबर गगाजल तैयार रहता था। जल भेजने के लिए कुछ विश्वासपात्र नौकर नैनान्त थे, और वहाँ से मुहरबन्द घड़ों में नियमित रूप से जल भेजा करते थे। जब दरबार आगरे या फतहपुर में था, तब गगाजल सोरो से आता था, पर ‘आईन’ के निर्माण के समय दरबार पंजाब में था, इसलिए गगाजल हरिद्वार से पहुँचता था। खाना पकाने के लिए चिबाव या यमुना का पानी काम में लाया जाता था, पर उसमें भी कुछ गगाजल मिला देते थे। स्वच्छ, स्वास्थ्यकर जल की ओर अकबर का यथेष्ट ध्यान था और वह इसे ‘अमृत’ कहा करता था। पानी के महकमे का नाम आबदारखाना था।

पहले दरबार में भी पानी शोरे से ठढा किया जाता था, पर पंजाब पर आधिपत्य होने के बाद पहाड़ी बर्फ का उपयोग होने लगा। लाहौर से लगभग पचास कोस से बर्फ आती थी और उसकी यात्रा की सफलता के लिए तरह-तरह के साधन जुटाये जाते थे। नावों का ऐसा प्रबन्ध था कि रोज एक नाव राजधानी में पहुँचती थी। इसके अलावा घोड़े, हाथी और पहाड़ी मजदूर भी बर्फ पहुँचाते थे। बिक्री की दर फी सेर ३ दाम* से २० दाम तक होती थी। साधारणतः एक सेर बर्फ ५ से ८ दाम को मिलती थी। ‘आईन’ में लिखा है—‘प्रत्येक श्रेणी के लोग गर्मी के दिनों में बर्फ का व्यवहार करते हैं और उमरा तो साल भर!’

ऊपर साकी और प्याले का जिक्र आ चुका है। अकबर ने इनका बहिष्कार नहीं किया। हां, जवानी की बात बुढ़ापे में न रही, और

* (४० दाम = १ रुपया)

शराब की जगह ताड़ी या पोस्त ने ले ली। ग्वालियर में १५८० के करीब पोस्त खानेवालों का एक सम्प्रदाय था, जो अपने को बाबा कपूर का अनुयायी बताता था। कुछ लोगों का विश्वास था कि अकबर भी इसी सम्प्रदाय का था।

कट्टर मुसलमानों को अकबर की बहुत-सी बातें बेतरह खटकती थी, जिसका प्रमाण उसके सम-सामयिक बदायूनी का इतिहास-ग्रन्थ है। इसने अकबर की निन्दा करते हुए लिखा है कि हिन्दू रानियों का उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि गोमास की तो बात ही क्या, उसने प्याज और लहसुन खाना भी छोड़ दिया !

(विशाल भारत, मई १९२९)

— — —

अकबर का विद्या-प्रेम

अकबर को पढ़ाने-लिखाने की सारी चेष्टाये निष्फल हुई, उसने अक्षर-ज्ञान तक प्राप्त न किया। कई शिक्षक आये-गये, पर किसी से कुछ न बन पड़ा। हुमायूँ ने बहुत समझाया-बुझाया कि बचपन विद्याभ्यास का समय है, कुछ तो हासिल कर ले, पर अकबर इस विषय में पिता की भी सुननेवाला न था। उसका ध्यान और ही अभ्यास की ओर था, उसने और ही विद्याओं में कमाल हासिल किया। अक्षरों को तो न पहचान सका, पर कुत्तों और घोड़ों का थोड़ी ही उम्र में अच्छा पारखी हो गया। चलो, उसके हक में यह अच्छा ही हुआ।

पर पढ़ने-लिखने में असमर्थ होते हुए भी वह अशिक्षित न था। शिक्षा केवल पुस्तकों में ही नहीं मिलती, उसे प्राप्त करने के और भी साधन हैं। अकबर ने ससार के अनुभव से ही बहुत कुछ सीखा था, फिर भी वह पुस्तकों का महत्व अच्छी तरह समझता था और उनसे लाभ उठाने के लिए बराबर तैयार रहता था। कई विद्वान् उसे ग्रन्थ पढ़ सुनाने के लिए नियुक्त थे। आईने-अकबरी में लिखा है—“सम्राट् ने प्रत्येक ग्रन्थ को आदि से अन्त तक सुनने का नियम कर रखा है। पाठ-विराम स्थल पर वह स्वयं अपने हाथ से एक चिह्न कर देते हैं, और पुस्तक पढ़कर सुनानेवाले को पृष्ठों के हिसाब से सोना या चांदी पुरस्कार में देते हैं। शायद ही कोई प्रसिद्ध ग्रन्थ ऐसा होगा, जिसे उन्होंने इस प्रकार न सुना हो, और इतिहास, विज्ञान या दर्शन-शास्त्र की शायद ही कोई खास बात होगी, जिससे वे अपरिचित हों।” अकबर के प्रिय ग्रन्थों में ‘इखलाके नासिरी’, ‘कीमियाए सआदत’, ‘गुलिस्ताँ’, ‘बोस्ताँ’, ‘मसनवी-ए-मानवी’, ‘जामे-जम,’

‘शाहनामा’ आदि मुख्य थे। अमीर खुसरो और जामी का भी वह बड़ा भक्त था, और उनके कितने ही पद्य उमे कण्ठस्थ थे।

अकबर को पुस्तको से बड़ा प्रेम था। उसका संग्रह उस समय अद्वितीय कहा जा सकता था। सभी ग्रन्थ हस्तलिखित थे। पोर्तुगीज पादरियों ने कुछ छपे हुए ग्रन्थ उसके पास उपहार-स्वरूप भेजे भी, तो उसने उन्हें अपने संग्रह में स्थान न दिया। एक एक ग्रन्थ को ‘सजिल्द और सचित्र’ कराने में हजारों रुपये खर्च हुए थे, और उनकी सज-धज या शोभा देखते ही बनती थी। अकबर के देहान्त के बाद सन् १६०५ ई० में जो लिस्ट तैयार हुई थी, उसमें चौबीस हजार ग्रन्थों के नाम थे, और उनकी कीमत ६४,६३,७३१ रुपया बताई गई थी। इन अंकों की पुष्टि उस समय के दो-एक यूरोपियन यात्रियों के विवरण से भी होती है, और आधुनिक इतिहासकार भी इसकी सत्यता स्वीकार करते हैं। पुस्तकालय कई विभागों में बँटा हुआ था। पहला विभाग हिन्दी या संस्कृत ग्रन्थों का था और अन्तिम विभाग अरबी ग्रन्थों का। कहना आवश्यक है कि सब की देख-रेख का उत्तम-से-उत्तम प्रबन्ध था।

अकबर के विद्या-प्रेम का फल यह हुआ कि कई अच्छे ग्रन्थों के फारसी में अनुवाद हो गये। संस्कृत से—जिसे अबुलफजल बराबर ‘हिन्दी’ लिखता है, ‘अथर्ववेद’, ‘महाभारत’, ‘रामायण’, ‘लीलावती’, ‘हरिवंश’, आदि अनूदित हुए। पर इन अनुवादों का महत्व बहुत कम है। अनुवादक, या यों कहना चाहिये कि संपादक, प्रायः मुसलमान विद्वान् थे, जिनका संस्कृत-ज्ञान नहीं के बराबर था। इस विभाग के पण्डित जो उल्टा-सीधा अर्थ बता देते थे, उसी के आधार पर वे फारसी अनुवाद तैयार होते थे। साहित्यिक दृष्टि से वे दोषों से भरे पड़े हैं—कहीं-कहीं मूल को पहचानना भी मुश्किल हो जाता है; पर उस समय को देखते हुए कहना पड़ता है कि जो कुछ हुआ बही बहुत था। कम-से-कम अकबर की तो प्रशंसा करनी ही पड़ती है कि उसने प्रोत्साहन और

पुरस्कार देकर विद्या-प्रचार में ऐसी सहायता पहुँचाई और दो भाषाओं के बीच ऐसा सम्बन्ध स्थापित किया।

मौलाना अब्दुल कादिर बदायूनी लिखता है—“सन् ९२३ हिजरी (१५९५ ई०) में दक्खिन से शेख भावन नाम का विद्वान् आगरे आया। यह ब्राह्मण से मुसलमान बन गया था। इसी समय मुझे सम्राट् से अथर्व (वेद) का अनुवाद करने की आज्ञा मिली। इस ग्रन्थ की कुछ बातें इस्लाम के आदेशों से मिलती-जुलती हैं। अनुवाद में मुझे कितनी ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जब वे शेख भावन से भी हल न हो सकीं, तब मैंने सम्राट् को इसकी सूचना दी। उन्होंने शेख फैजी और फिर हाजी इब्राहिम को अनुवाद करने की आज्ञा दी।..... अथर्व (वेद) में एक मंत्र के विषय में यो लिखा है कि बिना इसका पाठ किये मुक्ति नहीं मिल सकती। यह मंत्र ‘ला इलाह इल्लिल्लाह’ से बहुत कुछ सादृश्य रखता है। इस ग्रन्थ से मुझे मालूम हुआ कि हिन्दू अवस्था-विशेष में गोमास खा सकते हैं। यह भी मालूम हुआ कि पहले वे मुर्दों को जलाने के बजाय दफनाते थे। शास्त्रार्थ में शेख भावन यही बातें दिखाकर ब्राह्मणों को निरुत्तर कर देता था। वह स्वयं इसी को देखकर मुसलमान हुआ था, जिसके लिए हमें खुदा का शुक्रिया अदा करना चाहिए।”

महाभारत के अनुवादक या अनुवाद-निरीक्षक नकीब खां, अब्दुल कादिर बदायूनी और थानेश्वर के शेख सुलतान थे। बदायूनी को यह काम जरा भी पसन्द न था, पर पापी पेट के कारण उसे इस जूए में जुतना ही पड़ा। इस गुनाह के लिए खुदा से माफी माँगते हुए वह लिखता है—‘दो रात तो सम्राट् ने खुद तर्जुमा किया और नकीब खां से भावार्थ लिखाते गये। तीसरी रात उन्होंने मुझे बुलाकर नकीब खां के साथ काम करने का हुक्म दिया। तीन-चार महीने में, खुराफात और बेहूदगी से भरी हुई, इस किताब (महा-भारत) के १८ पर्वों में से दो का अनुवाद पूरा हुआ, और सम्राट्

के सामने पेश किया गया। उन्हें मेरा अनुवाद पसन्द न आया और उन्होंने मुझे गुस्से में हरामखोर तक कह डाला। फिर यह काम नकीब खा, मुल्ला शेरी, थानेश्वर के सुलतान हाजी और शेख फैजी को सौंपा गया। हाजी साहब ने अपने अनुवाद में 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' वाली कहावत चरितार्थ कर दी। कुछ ही समय बाद उनकी दरबार से बिदाई हो गई और आजकल आप भक्खर में समय बिता रहे हैं। हाँ, कौरवों और पाण्डवों का युद्ध अभी जारी है, अनुवाद होता ही जा रहा है। हमारी तो खुदा से यही दुआ है कि जिन लोगों का इस काम में हाथ नहीं है, जो इस्लाम के सच्चे बन्दे हैं और अपने गुनाहों की सच्चे दिल से माफी माँगते हैं, उन पर वह रहम करे और उन्हें दोख की आग से बचावे। महाभारत को अकबर 'रज्मनामा' (वीर रस का काव्य) कहा करता था।" उसने इसके अनुवाद की कितनी ही सुन्दर प्रतियाँ तैयार कराई थीं। एक प्रति कलकत्ते में एशियाटिक सोसाइटी की लाइब्रेरी में भी है।

रामायण के अनुवादक भी प्रायः वही थे, जो महाभारत के। वदायूनी को २४ हजार श्लोकों के अनुवाद के लिए १५० अर्शफियाँ और १० हजार टके इनाम में मिले थे। लीलावती के अनुवाद का उल्लेख-अबुलफजल ने इन शब्दों में किया है—“लीलावती भारत के गणित विषयक उत्तम-से-उत्तम ग्रन्थों में है। मेरे बड़े भाई फैजी ने इसका हिन्दी (संस्कृत) का घूँघट उतारकर इसे फारसी बुर्का उड़ा दिया।" 'फैजी ने नल-दमयन्ती के उपाख्यान के आधार पर अपनी नल-दमन नामक प्रसिद्ध मसनवी भी लिखी। इसमें ४२०० पद्य हैं, और यह ग्रन्थ पाँच महीने में पूरा हुआ था। फैजी के प्रबल विरोधी वदायूनी ने इसकी प्रशंसा में लिखा है—“यह सचमुच 'मसनवी' है। अमीर खुसरो के बाद इधर तीन सौ बरस के बीच, ऐसी कविता किसी दूसरे ने नहीं की।" हरिवंश पुराण और पंचतंत्र के भी अनुवाद हुए। पंचतंत्र का परिचय फारसी-संसार को 'कलीला दमना' के द्वारा

पहले ही हो चुका था। 'कलीला दमना' वास्तव में करकटक-दमनक का विकृत रूप है, पर सम्राट् को उसकी भाषा पसन्द न थी, इसलिए अध्यार दानिश के नाम से कलीला दमना की कहानी फिर से फारसी में लिखी गई। अबुलफजल ने इन अनुवादों के प्रसंग में तीन और ग्रन्थकारों का जिक्र किया है। उनके नाम हैं कृष्ण जोशी, गंगाधर और महेश महानन्द।

संस्कृत के अलावा और भाषाओं के साहित्य की ओर भी अकबर का ध्यान गया, और उसकी प्रेरणा से चुने हुए ग्रन्थों के फारसी में अनुवाद हुए।

अबुल फजल ने लिखा है कि हजारों कवि दरबार में आने-जाते थे। उसने ५९ ऐसे कवियों के नाम दिये हैं, जो सम्राट् के विशेष कृपापात्र थे। उसने अकबर को कविता का मर्मज्ञ बताया है, और लिखा है कि वह उसी कवि का आदर करते थे, जिसकी कविता में प्रधानता भाव की होती थी, भाषा की नहीं। कुछ लोगों का कहना है कि अकबर 'रहस्यवादी' था।

'आइने अकबरी' में उन विद्वानों की नामावली मिलती है, जिनकी दरबार में इज्जत थी, या कम-से-कम जिनके गुणों से सम्राट् परिचित थे। ये विद्वान् पाँच प्रकार के थे। अबुल फजल ने अपनी सफाई में कहा है—“मे निर्णेत या न्यायाधीश होने का दावा नहीं करता। किसी के दोषों पर प्रकाश डालना भी मुझे अभीष्ट नहीं। विद्वानों का श्रेणी-विभाग करने की तनिक भी इच्छा न थी, पर सत्य के अनुरोध से करना ही पड़ता है। पहला दर्जा उन विद्वानों का है जो पूरे दार्शनिक हैं और जिनकी आँखें माया के आवरण को भेद चुकी हैं। उनके लिए संसार में न तो कोई रहस्य है, न कोई पहेली। दूसरे दर्जे के विद्वान् भक्त या भावुक हैं और संसार से प्रायः विरक्त रहते हैं। तीसरा दर्जा 'माकूल व मन्कूल' मानने वालों का है, पर इसमें प्रधानता युक्तिवादियों की ही है। चौथे दर्जे के विद्वान् भी कुछ

ऐसे ही हैं। ये 'अक्ली कलाम' के कायल हैं और बिना तर्क की कसौटी पर कसे कुछ भी मानने को तैयार न हैं।

अबुल फजल ने पाँचवें दर्जे में उन विद्वानों को रखा है, जो संकीर्ण-हृदय और दुराग्रही थे—जिनमें अब्दुल कादिर बदायूनी जैसे तअस्सुबी लेखक या आलोचक आते हैं। इस सिलसिले में अबुल फजल ने कुछ हिन्दू विद्वानों के भी नाम बताये हैं, जो उसीके क्रमानुसार नीचे उद्धृत हैं:—

प्रथम श्रेणी:—(१) माधव सरस्वती, (२) मधुसूदन, (३) नारायण आश्रम, (४) हीरविजय सूरि, (५) दामोदर भट्ट, (६) रामतीर्थ, (७) नृसिंह, (८) परमेन्द्र, (९) आदित्य।

द्वितीय श्रेणी:—(१) रामभद्र और (२) जगरूप।

तृतीय श्रेणी:—

चतुर्थ श्रेणी:—(१) नारायण, (२) माधव भट्ट, (३) श्रीभट्ट, (४) विष्णुनाथ, (५) रामकृष्ण, (६) बलभद्र मिश्र, (७) वासुदेव मिश्र, (८) वामन भट्ट, (९) विद्यानिवास, (१०) गौरीनाथ, (११) गोपीनाथ, (१२) कृष्ण पंडित, (१३) भट्टाचार्य, (१४) भगीरथ भट्टाचार्य, (१५) काशीनाथ भट्टाचार्य, (१६) महादेव, (१७) भीमनाथ, (१८) नारायण और (१९) शिवाजी।

(इनमें अन्तिम चारों राजवैद्य थे)

पंचम श्रेणी:—(१) विजय सेन सूरि और (२) भानुचन्द्र* ।

आश्चर्य की बात है कि इस लिस्ट में गोस्वामी तुलसीदास जी या भक्त शिरोमणि सूरदास का कहीं उल्लेख नहीं है। अबुल फजल ने दूसरे प्रसंग में 'सूरसागर' के सुकवि का नाम लिखा है, पर 'रामचरित-मानस' या उसके रचयिता से वह अपरिचित-सा जान पड़ता है। विन्सेन्ट स्मिथ का अनुमान है कि अकबर को इन महाकवियों के अस्तित्व तक का पता न था, और रहीम तथा राजा मानसिंह सम्राट की

* अबुल फजल ने यह समझ कर इन्हें इस श्रेणी में रखा है कि ये दोनों ही शब्द-प्रमाण माननेवाले हैं।

मृत्यु के बाद, गोस्वामी तुलसीदास जी से परिचित हुए थे। स्मिथ ने स्वामी जी के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह उद्धृत करने लायक है:—

“अधिकांश फारसी कवियों की रचनायें अश्लील और असार थीं। उनकी ओर से ध्यान समेटकर उस समय के एक हिन्दू कवि के कूचे में आते ही आलम बदल जाता है, कविता-प्रेमी के दिल की कली खिल उठती है। इस कवि की लेखनी में अपूर्व ओज था और इसके विचार अत्यन्त शुद्ध तथा सात्विक थे। हम इसे मध्ययुग के कविता-कानन का सब से ऊँचा वृक्ष कह सकते हैं। उसका नाम आपको ‘आईने अकबरी’ या किसी दूसरे मुसलमान इतिहासकार के ग्रन्थ में कही नहीं मिलेगा। फारसी तवारीखों के आधार पर लिखनेवाले यूरोपियन यात्रियों के वृत्तान्तों में उसका कही जिक्र नहीं है। फिर भी वह हिन्दू भारतवर्ष में अपने समय का सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति था और उसका आसन अकबर से भी कही ऊँचा था। अकबर ने अपने शत्रुओं पर विजय अवश्य प्राप्त की, उनको अपने वश में करके छोड़ा। पर इस कवि ने तो लाखों-करोड़ों हृदयों पर अपना अधिकार जमा लिया, उन्हें सदा के लिए अपने वश में कर लिया। महत्व या स्थायित्व में अकबर की कोई भी विजय या दिग्विजय, इस महाकवि की विजय की बराबरी नहीं कर सकती।”

अकबर पढ़ा-लिखा न होने पर भी उस समय की शिक्षा-प्रणाली के दोषों को खूब जानता था, और उसके आदेश से इस विषय में बहुत कुछ सुधार भी हुआ था। थोड़े-से-थोड़े समय में अधिक-से-अधिक विद्या प्राप्त करा देना, यही अकबर के शिक्षा-सुधार का मुख्य उद्देश्य था। यह कहना कठिन है कि इस सुधार का कितना श्रेय उसे मिलना चाहिये और कितना अबुल फजल को, पर इसमें सन्देह नहीं कि सम्राट् के शिक्षा-संबंधी आदेश की तह में उसका बचपन का अपना अनुभव था। ‘आईने अकबरी’ में लिखा है:—

“प्रत्येक देश में, खासकर हिन्दुस्तान में, बच्चों को कई बरस मकतब या मदरसे में बिताने पड़ते हैं। वहाँ केवल अक्षरो और उनकी मात्राओं के भेद जानने में उनका बहुत कीमती समय नष्ट हो जाता है। सम्राट् का आदेश है कि अक्षर-ज्ञान इस तरह प्राप्त कराया जाय कि दो दिन में बालक प्रत्येक अक्षर के नाम और स्वरूप से परिचित हो जाय। फिर उसे सयुक्त अक्षरो का अभ्यास कराना चाहिये। इस काम के लिए एक सप्ताह काफी है। बाद उसे कुछ नज्म (पद्य) और नस्र (गद्य) याद करा देना चाहिए। यह (गद्य-पद्य) या तो ईश्वर की स्तुति हो या नीति का उपदेश हो। ध्यान इस बात का रखना चाहिए कि बालक कुछ तो आप समझ जाय और कुछ उसे शिक्षक समझाता जाय। फिर रोज कुछ देर तक बालक से कोई मिसरा (पाद या चरण) या बैत (पूरा पद्य) लिखाया जाय, ताकि लिखने में उसका हाथ खुल जाय। शिक्षक को पाँच चीजों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। वे ये हैं:—

(१) अक्षर-ज्ञान, (२) अल्फाज, (३) मिसरा, (४) बैत और (५) पिछले पाठ की पुनरावृत्ति। अगर इस प्रणाली से शिक्षा दी जाय, तो जो बात पहले बरसों में आती थी, वह महीनों घंटों में ही आ जाय, और लोग यह देखकर दंग रह जायँ। प्रत्येक बालक को इन विषयों की शिक्षा देनी चाहिए—नीति, गणित, रेखागणित, नाप-जोख, गृह-निर्माण, विद्या, रमल, शासन-पद्धति, चिकित्सा-शास्त्र, ज्योतिष, न्याय, विज्ञान, दर्शन और इतिहास।

संस्कृत के विद्यार्थियों को व्याकरण, न्याय, वेदान्त तथा पातंजल (योगदर्शन) का अध्ययन कराना चाहिये। सब से जरूरी यह है कि समय का दुरुपयोग न हो।”

अबुल फजल का दावा है कि सम्राट् के इस आदेश के फलस्वरूप शिक्षा-प्रणाली में आश्चर्यजनक सुधार हो चला। स्मिथ साहब यह मानने को तैयार नहीं हैं। सम्भवतः वह सुधार स्थायी न हो सका, पर किन्डर गार्टन या डायरेक्ट मेथड के जन्म से बहुत पहले इस

देश के एक शासक का ध्यान इस ओर गया था कि अगर उचित रीति से शिक्षा दी जाय, तो बरसों में आनेवाली विद्या महीनों में आ सकती है।

(विशाल भारत, जुलाई-दिसम्बर, १९२९ ई०)

मक्खन

अगर मुझे मक्खन से प्रेम है और मैं घी से दूर रहता हूँ तो किसी को यह कहने का क्या अधिकार है कि मैं अपनी सम्यता से विमुख हो रहा हूँ ?

मुझे मक्खन भाता है, मैं मक्खन खाता हूँ। मेरे समालोचक अगर घी पर मरते हैं, तो मरे। मैं मक्खन खाकर जिन्दा रहूँगा।

लोकमान्य तिलक ने इस सबध में कुछ कहा था। अगर मैं भूलता नहीं, तो उनका कहना था कि स्वराज्य—अर्थात् अपनी रुचि के अनुसार खाना पीना—हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। मैं कभी किसी के खान-पान की आलोचना नहीं करता। महात्मा जी इतने हेर-फेर करते रहते हैं, पर इस विषय में मैं अपने मुह न छोटी बात करता हूँ, न बड़ी। मुझे अधिकार ही क्या है ? टडन जी प्रयोग करते-करते इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि अगर विज्ञान गोबर को गुड़ नहीं बना देता, तो वह सफल नहीं कहा जा सकता। उन्हें निमन्त्रण देने से पहले गुड़ का प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पंडित पद्मसिंह जी शर्मा के सबध में कुछ लिखना और चाय की चर्चा न करना असम्भव-सा हो रहा है। मैं इनमें से किसी की राह पर चलने का साहस नहीं कर सकता। सच पूछिये, तो मुझे बकरी के दूध (महात्मा जी ने अब इसका भी परित्याग कर दिया है) या गुड़ या चाय से विशेष प्रेम भी नहीं, पर मैं इनमें से किसी को अपनी समालोचना का विषय नहीं बनाता। बालिंग हो जाने पर प्रत्येक मनुष्य यह अधिकार पा जाता है कि वह दाम देकर या उपजाकर जिस पदार्थ से चाहे अपनी उदर-

पूति करे। जो इस विषय में नुकताचीनी करते हैं—विशेषकर जिन्हें मेरे मक्खन में पाश्चात्य सभ्यता नज़र आती है—वे सभ्य ससार के नागरिक कहाने योग्य नहीं हैं।

मक्खन खाकर मैं औचित्य पर आघात कर रहा हूँ, मैं ऐसा नहीं समझता। देखिये, सारा ससार—भारतवर्ष को छोड़ दीजिये—मक्खन खा रहा है। शेक्सपियर, शेली, विकटर ह्यूगो, मेज़िनी, विल्सन, लेनिन सभी मक्खन खानेवाले थे। चीन और जापान, अरब और अफ्रीका में भी मक्खन का ही प्रचार है। घी खानेवालों की गिनती तो अँगुलियों पर की जा सकती है। हम कह सकते हैं कि घी में राष्ट्रीयता अथवा संकीर्णता है और मक्खन में अन्तर्राष्ट्रीयता अथवा उदारता। अगर “वसुधैव कुटुम्बकम्” कभी चरितार्थ हो सकता है, तो मक्खन के ही जरिये।

मालूम नहीं इस विषय में हमारे कविवर रवीन्द्रनाथ का क्या विचार है। उन्होंने कही लिखा है कि “अगर तेरी पुकार या आवाज सुनकर कोई नहीं आता, तो तू अकेला ही चलता रहे।” पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी जैसे मित्रों को उनकी यह पंक्ति बहुत प्यारी है, पर कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि अगर भारतवर्ष को छोड़ और कोई देश घी नहीं पीता, तो यह अपनी राह हरगिज न छोड़े। मैं इससे सहमत नहीं हूँ। रवि बाबू ऐसी संकीर्णता से भरा हुआ आदेश या उपदेश देंगे, यह मेरी समझ में नहीं आता। वह स्वयं भारतीय होते हुए भी सार्वभौमिक हो रहे हैं। कवियों में अन्तर्राष्ट्रीयता की ऐसी उपासना आज तक किसी ने नहीं की। मुझे विश्वास नहीं होता कि वह घी की जड़ को मजबूत करने वाली कोई बात कहेंगे, पर इसके अनुसन्धान की आवश्यकता है। इतने लोग बोलपुर जाते रहते हैं, क्या कोई सज्जन इस विषय पर प्रकाश डालने की कृपा करेंगे? प्रश्न यही है कि विश्व-भारती की दृष्टि से रविबाबू घी का प्रचार चाहते हैं या मक्खन का? सरल-से-सरल शब्दों में इसका उत्तर मिलना चाहिये।

रवि बाबू की भाषा इधर बड़ी जटिल हो गई है। रवि बाबू के बाद अपने देश के कवियों में शायद इकबाल का नंबर है। वह भी अन्तर्राष्ट्रीयता के भक्त हैं। यद्यपि उनकी अन्तर्राष्ट्रीयता इस्लाम तक परिमित है। अभी हाल में कट्टर मुसलमानों की किसी सभा में उन्होंने डंके की चोट कहा था कि हम तो इस्लाम के बन्दे हैं, कावा हमारा केन्द्र है फिर हम उस तंग गली में कब पैर धर सकते हैं, जिसका नाम राष्ट्रीयता है? इन्हीं इकबाल साहब ने किसी समय अपने एक दोस्त को लिखा था:—

“यूनानो रोम मित्रा मक्खन के सब हैं हमी,
खिचड़ी पकाता घी में एक हिन्दोस्ताँ हमारा।”

वात बहुत ठीक है। घी में हिन्दुस्तान की खिचड़ी पकती है, और सो भी डेढ़ चावल की। जहाँ अन्तर्राष्ट्रीयता पर इतना जोर दिया जा रहा है, जहाँ कविता की सरिता का एकमात्र लक्ष्य अनन्त हो रहा है, वहाँ घी का यह बोलबाला कब तक रहेगा।

मैं यह स्वीकार नहीं करता कि सभ्यता की दृष्टि से मक्खन विदेशी है। हाँ, यदि आर्य विदेशी है, तो मक्खन भी विदेशी है। यहाँ की आदिम जातियाँ संभवतः घी का ही व्यवहार करती थी। मक्खन आर्यों के साथ यहाँ आया। उसमें नवीनता थी, शायद इसीलिए उसका नाम नवनीत पड़ा। जो विशुद्ध आर्य होने का अभिमान रखते थे, वे बराबर मक्खन का ही व्यवहार करते थे। श्री कृष्णचन्द्र जी का उदाहरण लीजिए। उन्हें चोरी तक करनी पड़ती थी, पर उन्होंने अपने पूर्वजों के खान-पान का परित्याग नहीं किया। माखनचोर कहाकर भी मक्खन खाते रहे। क्या श्रीकृष्ण ने भूलकर भी कभी घी ग्रहण किया था? मैं उनका अनुयायी हूँ, मुझे उनका अभिमान है, अगर वह चुराकर मक्खन खाते थे, तो मैं खरीदकर मक्खन खाने में किसी प्रकार का अनौचित्य या अनाचार नहीं देखता। इतिहासज्ञों को पता लगाना चाहिए कि इस देश में घी का पुनरुद्धार कब और कैसे हुआ। मेरा

अपना ख्याल है कि जब इस देश में किसी समय अनायों की प्रधानता हो चली और वैदिक धर्म-कर्म नीचे दब गये, तब घी ने भी सिर उठाया और धीरे-धीरे सब पर अपना आधिपत्य जमा लिया। चार्वाक नामक कोई अनार्य नेता था, उसने अपने दर्शनशास्त्र में घी पीने पर बड़ा जोर दिया। यहाँ तक कह दिया कि अगर पैसे का अभाव हो, तो लोग ऋण करके भी घी पीते रहे। आर्यों की सभ्यता और संस्कृति का लोप करने के लिए ही उसने घी के गड़े मुर्दे को उखाड़ा था। उस समय तक लोग गाढ़े पसीने की कमाई से घर में मक्खन लाते थे। जिनके पास पैसा न होता, वे मक्खन के रसास्वादन से वचित रह जाते। ऋण करना पाप समझा जाता था, ऋण करके घी पीना महापाप, पर चार्वाक ने घोषणा कर दी कि ऋण करके घी पीना मनुष्य का कर्त्तव्य है, उसका धर्म है। तभी से इस देश में कर्जदारों की और घी पीनेवालों की सख्या बेहद बढ़ चली। जिनके पास पूजा थी या जिन्हें दूसरों की पूजा कर्ज के तौर पर मिल सकती थी, सब-के सब चार्वाक की उक्ति को चरितार्थ करने लगे। आज इस देश में घी की लोकप्रियता ऐसी है कि चर्बी-जैसी चीज भी उसका नाम लेकर उसी के समान आदर पा जाती है। विशेषज्ञों का कहना है कि भारतवर्ष पर कर्ज का बोझ बढ़ता ही जा रहा है। इधर कुछ वर्षों से विदेशी घी की भी अच्छी आमदनी हो रही है। चार्वाक का आदेश ही यही था कि ऋण करके भी घी पीते रहो।

कुछ भी हो, सभ्यता को इस प्रसंग में घसीटने की कोई आवश्यकता नहीं। पूरब की सभ्यता कही वाकी रह गयी है, मुझे इस विषय में बहुत सन्देह है। जो महाशय मेरे मक्खन पर आपत्ति करते हैं, उनकी सभ्यता कहाँ की है? पाश्चात्य सभ्यता की निन्दा में उन्होंने अखबारों के कालम काले किये हैं और डबल क्राउन सोलह-पेजी का भी व्यवहार किया है। उनका एक साधारण पत्र भी आता है तो उसमें मुझे सात समुद्र पार की ही सभ्यता मिलती है। बराबर मुझे 'प्रिय महोदय' बताकर

अपने को 'भवदीय' बताते हैं, और मेरी ओर से जो उत्तर मिलता है, उसके लिए मुझे 'धन्यवाद' देते हैं। परमात्मा उनका भला करे, पर अगर उनका खयाल है कि उनकी सम्म्यता यहाँ की है, तो वे भूलते हैं।

[हम विद्वान् लेखक के कथन से पूर्णतः सहमत हैं। निस्सन्देह घी ने हमारे देश की काफी हानि की है। घी ने ही हम लोगों को हृदयहीन बना दिया है, तभी हम लोग कहा करते हैं—“मेरे को मर जाने दो, घी की चुपटी खाने दो।” इसी घी ने हमारी कला-सबधी सुरुचि का मटियामेंट कर दिया है। हम कुरूप, कुढ़गी, सौन्दर्यरहित और कलाहीन वस्तु को देखकर भी यह कहकर टाल देते हैं—“उह, घी का लड्डू टेढा भला !” आर्य बड़े मीधे-सादे, सच्चे और ईमानदार होते थे। इस घी ने ही उन्हें कुटिलता सिखलाई, और इसी से वे इस नीति का अवलम्बन करने लगे—“सीधी अंगुरी घी जम्यो क्यो हूँ निकसत नाहि।” आजकल सारा ससार ऊँच-नीच के भेद-भाव से त्रस्त है, और समता की दुहाई दे रहा है। इस घी ने हमारे ऊँच-नीच के भेद-भाव को और भी बढ़ाया है। यह तो सभी जानते हैं कि चना कितना उपयोगी और पुष्टिकारक अन्न है, मगर इस कमबख्त घी ने उसे नीचा बना दिया है, और लोग कहने लगे—“कभी घी घना, कभी एक मुट्ठी चना” —मानो चना कोई हेय पदार्थ हो ! यह बात सभी जानते हैं—“नीम न मीठो होय, सीचे गुड़ घी से।” यदि किसी ने नीम में मक्खन चुपड़कर एक्सपेरीमेन्ट किया होता, तो शायद उसे इस परिणाम पर न पहुँचना पड़ता। घी खा-खाकर हम लोग ऐसे हो गये हैं कि हम में से जो कोई घी का विरोधी होता है, हम उसकी ओर इशारा करके कहते हैं—“इन्हे घी नहीं पचता !” और इस प्रकार गाली देकर अपनी कुसंस्कृति का परिचय देते हैं। एक बात और है। घी खाने से आदमी की बुद्धि उलटी हो जाती है। यह घी खाने का ही परिणाम था कि प्राचीन काल के तर्कचार्य को यह बुद्धिमत्ता-पूर्ण तर्क सूझा था—जिसका उन्होंने

व्यावहारिक प्रयोग करके भी देखा था—“घृताधारम् पात्रम् कि पात्रा-
धारम् घृतम् ?”

क्या ही अच्छा हो यदि लेखक महोदय एक ‘माखन प्रचारिणी सभा’
स्थापित करे और कलकत्ते में होने वाले सम्मेलन तथा पत्रकार सघ
में इस विषय का एक प्रस्ताव उपस्थित करे। कहने की आवश्यकता
नहीं कि ब्रजभाषा के वृद्ध कवि श्री नवनीतलाल जी चतुर्वेदी तथा
खड़ी बोली के मुकवि श्री माखनलाल जी चतुर्वेदी इस प्रस्ताव का
हार्दिक समर्थन करेंगे।]

—सम्पादक* विशाल भारत

(विशाल भारत, फरवरी, १९३१)

* उन दिनों ‘विशाल भारत’ के सम्पादक पं० बनारसीदास
चतुर्वेदी थे ।

“वसुधैव—”*

कलकत्ते में हिन्दू होटल या पवित्र भोजनालय उतने नहीं हैं, जितने केबिन या रेस्टोरॉ जहाँ चाय-प्रेमी बंगाली भाइयों का दिन-रात जमघट लगा रहता है। एक रोज कार्नवालिस स्ट्रीट के किसी रेस्टोरॉ में मैं चाय का प्याल लेकर मितव्ययिता के पढ़े हुए पाठ को क्रियात्मक रूप दे रहा था कि मेरा ध्यान बगल की खाली कुर्मी पर गया। वह अपनी निराली भाषा में अपने आतिथ्य या औदार्य की सूचना दे रही थी और कह रही थी कि जो आ जाय, हम उसका खुले हाथों स्वागत करने को तैयार हैं।

एक बंगाली बाबू आ ही तो गये। आप उन इने-गिने व्यक्तियों में थे जिनका सिद्धान्त “वसुधैव कुटुम्बकम्” है, और आपने बात की बात में मुझे अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। मैं समझता था कि इस ऊँचे आदर्श के अनुयायी इस ओर शान्तिनिकेतन को छोड़ अन्यत्र मिलने के नहीं, पर जब देखा कि कार्नवालिस स्ट्रीट के इस कोने में भी ऐसे महा-पुरुष का सत्संग हो रहा है तब मुझे अपना विचार बदलना पड़ा।

पाठक जरा उस समय के दृश्य को अपनी आँखों के सामने ले आवें। जराजीर्ण कुर्सियाँ, जो परोपकार से मुह मोड़नेवाली या भार-वहन से थकनेवाली न थी; छोटी-बड़ी मेजे जिन पर बिछे हुए मोमजामे न जाने कितने युगान्तर देख चुके थे; चीनी मिट्टी के नये-पुराने प्याले, जिनमें अधिकांश अपने प्रेमियों के ओठों के ससर्ग से प्रायः घिस चले थे; पूर्व और पश्चिम बंगाल के इतने शुष्ककण्ठ भाई, जिनमें कुछ कालेजों में कीट्स और कालिदास पढ़ते थे, कुछ क्लाइव स्ट्रीट में दिन

* अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक श्री ओ० हेनरी की एक कहानी ‘कस्मोपोलिटन’ का छायानुवाद।

भर बलर्की करते थे, कुछ—यद्यपि बहुत थोड़े—हड्डियाँ तालाब के आस-पास कागज-कलम, कोट-कमीज बेचते थे और कुछ ‘प्रवासी’, ‘भारतवर्ष’, ‘आत्मशक्ति’ जैसे पत्रों के लिए लेख या गल्प लिखते थे। रेस्टोरॉ में नाम-मात्र को भी शान्ति न थी। बंगाली भाई कब चुप बैठनेवाले हैं, खासकर जब गरमागरम चाय सामने हो, ब्रेड टोस्ट के रूप में परिणत हो रहा हो, मटनचाप के साथ प्याज के कुछ कतरे और हरी पत्तियाँ मिलने की सम्भावना हो और ‘घोडार डिम’ के बजाय असली ‘डिम’ से आँखें लड़ रही हो। वार्तालाप के विषय विभिन्न थे। बंगाल नेशनल बैंक के दिवाले से लेकर अध्यापक सरकार की वेश-भूषा तक—पूरा सरगम बज रहा था। मेरे पड़ोसी ने सारे दृश्य पर सूत्रात्मक टीका करते हुए कहा:—“मुझे पेरिस के ‘काफ़े’ की याद आ रही है।”

आपका नाम श्री निखिलरजन राय है, यद्यपि आप अपने नाम के साथ श्री भी नहीं चाहते। इस साल की गर्मी आप फ्रान्स के दक्षिण भाग में बितानेवाले हैं। आपने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए कहा—“जब आपका स्वास्थ्य ठीक नहीं है तब आपको तो वहाँ अवश्य चलना चाहिये”—और ज्यों ही यह बात समाप्त हुई आपने इस वसुधारूपी गेद को हाथ में ले लिया और लगे इसे उँगलियों पर नचाने। मुझे उस समय यह भ्रमण्डल गेद तो क्या अनारदाने से भी छोटा नजर आने लगा। जिस प्रकार हम लोग चीनी पट्टी या ‘अफीम-चौरस्ता’ से परिचित हैं, उसी प्रकार निखिल बाबू कुस्तुन्तुनिया या न्यूयार्क से परिचित दीखते थे। अति परिचयादवज्ञा—यह भी बहुत कुछ सच है क्योंकि उनके हृदय में इक्वेटर अर्थात् विषुवत् रेखा के प्रति तनिक भी आदर न था और कनाडा के उत्तरी भाग को तो वह सचमुच घृणा की दृष्टि से देखते थे। जो हो, निखिल बाबू इस दुनिया की खाक ऐसी खूबी से छान चुके थे कि एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में जा पहुँचते उन्हें पल भर भी समय मुश्किल से लगता था। घड़ी भर के लिए वह आप से हँसरावाद की बातें करते और फिर आपको प्रशान्त महासागर के वक्षःस्थल पर रख आते। वहाँ से आपको

अरब के रेगिस्तान में लाकर पटक देते और ज्यों ही आपके शरीर पर का पानी सूख चलता, आपको हिमालय की गोद में पहुँचा देते । पर वहाँ कुमारसंभव के पहले श्लोक की भी आवृत्ति करने का समय आप शायद ही पाते । क्योंकि आपने कालिदास का स्मरण किया और निखिल बाबू आपको लन्दन की टेम्स नदी के नीचे या पेरिस के ‘एफिल टावर’ के ऊपर रख आये । आप कहते—“वाह ! कैसा स्थान है । कैसी सड़के—कैसे लोग !” पर ठहरने आप वहाँ भी न पाते । निखिल बाबू ने आपको दूसरे ही लोक में पहुँचा दिया । यहाँ दलाईलामा है, कैलास पर्वत है, और प्रत्येक नर-नारी के शरीर पर मेल की मोटी परत है । निखिल बाबू बोले :—“मानसरोवर के किनारे मैं उस बार ज्वराक्रान्त हो गया । सयोग से एक महात्मा मिल गये । उन्होंने ऐसी जड़ी सुघाई कि मैं बखूबी चगा हो गया और तिब्बत भ्रमण पूरा कर, चीन होता हुआ फिलिपीन चला गया ।” सारी पृथ्वी निखिल बाबू के तीन डेग है । मुझे मालूम नहीं वह इस समय कहाँ होंगे, पर अगर उन्हें कुछ लिखना होगा तो उनके नाम के बाद, कार्ड या लिफाफे पर,

C/o भूमण्डल

सौर जगत्

ब्रह्माण्ड

लिखकर ही उसे डाक में डाल दूंगा । ऐसे पुरुष के लिए इतना ही पता काफी होगा ।

निखिल बाबू की बातें सुनकर मुझे विश्वास हो गया कि यह आत्मा सचमुच ही सार्वभौमिक है । कभी कभी यह आशंका होती कि पर्वत की चोटी से लुढ़ककर इनकी बातचीत किसी गहरी खाई में न पहुँच जाय, पर कहते संतोष होता है कि इनका वार्तालाप आदि से अन्त तक सार्वभौमिक बना रहा और स्थानीय विषयों को पास भी फटकने न दिया ।

मुझे इस समय संस्कृत की एक उक्ति का स्मरण हो आया । कई

बार पुस्तकों में और राष्ट्रीय पत्रों में पढ़ा था कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' और मुझे मालूम था कि कुछ लोगों की दृष्टि में यह उक्ति कितना महत्व रखती है। पर निखिल बाबू के सत्संग से यह प्रत्यक्ष हो गया कि इस उक्ति का आधार सकीर्णता है। जिस व्यक्ति से मेरी इस रेस्टोराँ में बातें हो रही थी, उसका जन्म पूरब बंगाल में हुआ था, पर उसे बग-वासी या भारतवासी होने का तनिक भी गर्व न था—अगर कुछ गर्व था तो वसुधावासी होने का। चन्द्रलोक या मंगलग्रह के निवासियों से मुलाकात होने पर, वह पृथ्वी की प्रशंसा के पुल बाँध सकता था, उसकी खूबियों की डींग हाँक सकता था, पर अन्य देशों की अपेक्षा अपने देश को विशेष महत्व देना या सार्वभौमिकता की जगह राष्ट्रीयता की जय मनाना—ऐसे पक्षपात और ऐसी सकीर्णता का परिचय वह कभी न दे सकता था।

मैं इधर इस निर्णय पर पहुँचा, उधर सड़क पर कुछ भीड़-मि दिखायी दी। कुछ लोग बाहर निकल पड़े। मैं भी निकलना चाहता था, पर निखिल बाबू ने रोक लिया। मालूम हुआ कि एक सगीत-मडली डी० एल० राय का प्रसिद्ध गान "धन-धान्य-पुष्पे भरा आमादेर एइ वसुन्धरा" गाती हुई उधर से गुजर रही थी। पर जिस गान से इतने लोग सुख-शान्ति पा रहे थे, उसी ने मेरे मन की अशान्ति बढ़ा दी। निखिल बाबू बोले:—

"संकीर्णता की हृद हो गयी। वसुन्धरा का अर्थ पृथ्वीमात्र हो तो मुझे कोई आपत्ति नहीं, पर यहाँ तो अर्थ का अनर्थ कर गहरे पक्षपात का परिचय दिया गया है। क्या और देशों में धन-धान्य या पुष्प नहीं होते? क्या धन और धान्य दोनों से ही अमेरिका परिपूर्ण नहीं है और क्या पुष्प जैसे स्विट्ज़रलैंड में होते हैं, वैसे इस देश में कहीं भी मिल सकते हैं! फिर इस गर्वोक्ति के मानी क्या? आप कहने के लिए अपने देश को सब देशों का राजा या रानी जो चाहे कह लें, इससे आपके स्वरूप में तनिक भी परिवर्तन नहीं हो सकता।"

मैंने निखिल बाबू का समर्थन करते हुए कहा—

“बेशक ! अपने मुह मियाँ मिट्ठू तो जो चाहे बन सकता है । पर इससे आता-जाता क्या है !”

निखिल बाबू ने अपना मत और भी स्पष्ट करते हुए कहा—“मैं किसी के देश या जातीयता को कुछ भी महत्व नहीं देता । मनुष्य अच्छा चाहिये, चाहे जिस जाति का हो और चाहे जिस देश का हो । फ्रांस में वर्डून के पास मैंने जैसी परोपकारिता एक किसान में पायी थी, वैसी आज तक दूसरे मनुष्य में न पा सका । जो स्वयं कूपमण्डूक है, जिन्हे इतना भी नहीं मालूम कि दुनिया कितनी लम्बी-चौड़ी है, उनकी बातों का मेरी आपकी दृष्टि में क्या मूल्य हो सकता है ?”

उत्तर की आवश्यकता न होते हुए भी, मैंने चाय पीते हुए कहा—“कुछ भी नहीं” और फिर कुछ याद पड़ने पर मैंने इसमें इतना और जोड़ दिया:—

“सकीर्ण-हृदय समालोचको से काम पड़ने पर आज हिन्दी के कितने ही लेखक और कवि भवभूति के शब्द दोहराने लगे हैं । यह सन्तोष की बात है, क्योंकि इससे अधिक नहीं तो इतना लाभ अवश्य हुआ है कि सैकड़ों नहीं, हजारों हिन्दी-पाठको को उस महाकवि के श्लोक का अन्तिम चरण—
कालोद्दयं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी—याद हो चला है । उदारता की दिशा में इसका फल कभी-न-कभी अच्छा ही होगा ।”

निखिल बाबू ने भी इस चरण को कण्ठस्थ कर लिया और इसे दोहराते हुए बोले:—

“जिसने ये शब्द लिखे वह महाकवि कहाने का सचमुच अधिकारी था ।”

यहाँ आपने एक ‘हाँसेर डिम’ तलब किया और उसके आते ही कहने लगे:—

“आप लोग इसे डिम नहीं अण्डा कहते हैं । मेरे लिए यह ब्रह्माण्ड का स्मारक है । उस ब्रह्माण्ड में न जाने कितने लोक, कितने देश-कितने प्रदेश हैं । एक इसी ससार में इतनी विभिन्नता और विचित्रता भरी पड़ी है कि इस पर विचार करते-करते कभी-कभी सर चक्कर खाने लगता है ।

समालोचको की संकीर्णता का अभी आपने जिक्र किया। वास्तव में जिसने ससार की एक बार भी परिक्रमा न की, वह क्या जान सकता है कि उसकी अधिकांश धारणायें कैसी निर्मूल हैं। मैं कई ऐसे स्काटलैंड-निवासियों को जानता हूँ, जिनमें आप अलौकिक उदारता पायेंगे।”

मैं यहाँ यह कहना चाहता था कि मेरे कई ऐसे मारवाड़ी मित्र हैं जिनका ध्यान साहित्य-सेवा की ओर जा रहा है और जिनमें कुछ मौलिक कविताये भी लिख लेते हैं, पर निखिल बाबू ने मौका न दिया। उनका सिलसिला बना ही रहा:—

“मैं कुछ ऐसे अमेरिकियों से परिचित हूँ जो दिन भर चल के भी ढाई कोस पूरा नहीं कर सकते। लन्दन में मुझे स्वार्थत्यागी यहूदी मिल चुके हैं और चीन में मैं बुतपरस्त मुसलमानों के घर रोटी खा चुका हूँ! पर जिन्हें ऐसा अवसर नहीं मिला है उनकी धारणाये क्या होगी?”

उस समय मेरे मन में आया कि इसी क्षण ससार-सागर में कूद पड़ू और देखू कि वस्तु-स्थिति से टकराकर मेरी कितनी धारणाये चकनाचूर हो जाती हैं। पर फिर सोचा कि अपनी धारणाओं से धोखा न खाने का एक मात्र उपाय यही है कि हम अपना हृदय उदार और अपनी दृष्टि व्यापक रखें। सो निखिल बाबू से कहा :—

“मैं देखता हूँ कि सब खराबियों की जड़ संकीर्णता है, और इसका इस समय हमारे देश में दौरदौरा है। जो तंगदिली मेरे छोटे-से गाँव में है, वही इस बड़े-से-बड़े शहर में भी है। पर उपाय क्या?”

निखिल बाबू ने उत्तर दिया :—

“जब तक हम उस ऊँचे आदर्श को नहीं अपनाते, तब तक कुछ भी उपाय नहीं है। जब बीज संकीर्णता के बोये जा रहे हैं, तब उदारता का फल कहाँ से हाथ लग सकता है?”

मुझे दिल्ली-आगरे के कवियों की याद हो आयी। कैसे बीज बो गये हैं! दिल्ली में एक कवि था जो ‘जौक’ नाम से प्रसिद्ध है। उसकी

अवस्था वहाँ दीनहीन थी, पर जब हैदराबाद दरबार ने उसे सैकड़ों रुपये मासिक वेतन देकर अपने यहाँ बुलाया, तब उसने दिल्ली छोड़ने से इन्कार कर दिया। यही नहीं, हैदराबाद दरबार को कुछ जलीकटी भी सुना दी—

‘गरचे हँ मुल्के दकन में आजकल कदरे सुखना

कौन जावे जौक पर दिल्ली की गलियाँ छोड़कर।’

सो दिल्ली की गलियों के आगे सारा दक्षिण प्रदेश तुच्छ ठहरा। आगरे में ‘नज़ीर’ हो गया है। वह इसी बात पर फूला नहीं समाता था कि उसका जन्म आगरे में हुआ था—

आशिक कहो असीर कहो, आगरे का है।

शायर कहो नज़ीर कहो, आगरे का है।’

यह थी इन लोगों की संकीर्णता जो आज स्वाभिमान के नाम से इस देश में इतनी प्रशंसा पा रही है। अपना शहर, अपनी गली, सारी दुनिया के ऊपर—जहाँ इस आदर्श की पूजा हो वहाँ—”

पर कुछ सन्देह रह गया। मैंने निखिल बाबू का ध्यान इन कविताओं की ओर आकृष्ट किया। उन्हें यह सम्मति देते तनिक भी देर न लगी कि जिन लोगो की दृष्टि इतनी सकुचित थी, जिनका प्रेम इतना परिमित था, उन्हें कवि कहना भी पाप है। हाँ, इस बात पर उन्होंने अपना सन्तोष प्रकट किया कि दोनों में एक भी इस प्रान्त का निवासी न था। पर एक ही झटके में जौक और नज़ीर दोनों को दूर फेंककर, मेरे मित्र फिर सार्वभौमिकता के उच्च शिखर पर चढ़ गये—

“बारह बार मैं पृथ्वी की परिक्रमा कर चुका। ग्रीनलैंड में मेरे एक मित्र है जिन्हे अभी कल मैंने “गीताजलि” की एक प्रति भेजी है। इस समय भी मैं ऐसे दो कमरों का भाड़ा चुकाता हूँ जिनमें एक तो काहिरा में और दूसरा शर्घाई में है। जेनेवा के किसी भी होटल में मुझे यह बताना नहीं पड़ता कि मुझे कैसी ‘पुडिंग’ पसन्द है और पी० एण्ड ओ० के चाहे जिस जहाज से मैं सफर करूँ, मुझे लच में कच्ची मूली बिना माँगे

मिल जाती है। १९२५ ई० में मैं अपनी मद्रासी चिट्ठी लन्दन के हाइड पार्क होटल में छोड़ आया था। अभी हाल में मैनेजर की चिट्ठी आयी थी कि मेरी चिट्ठी की पूरी हिफाजत है और वह मेरे लौटने की राह देख रही है। मैं उन रेखाओं को तनिक भी महत्व नहीं देता जो एक देश को दूसरे से पृथक् करती है या देशान्तर कही जाती है।”

(‘स्वतन्त्र’ के विशेषांक से)

कुत्ते की खुली चिट्ठी

मेरे प्यारे स्वदेशवासियो !

आप लोगो की उदारता के भरोसे मैं आपको इन शब्दों में सम्बोधन कर रहा हूँ। मेरा जन्म पशुकुल में हुआ है और वहाँ भी मैं हाथी-घोड़ा न होकर निरा कुत्ता हूँ, यद्यपि मुझे इस बात का अभिमान है कि मैं भारतमाता की गोद में पला हूँ और देश-प्रेम में आपसे अधिकारी की बराबरी कर सकता हूँ। आपके साहित्य में हमारी जाति का क्या स्थान है, इस विषय की आलोचना मैं इस समय अनावश्यक समझता हूँ। प्राचीन काल में यहाँ की विद्वन्मण्डली में हमारा यथेष्ट आदर था। महामुनि पाणिनि ने अपने एक प्रसिद्ध सूत्र* की रचना करते समय हमारा जो सम्मान किया था, उसकी हमें विस्मृति नहीं हुई है। यह सच है कि उन्हें परवर्ती लेखकों या समालोचकों से इसके लिए गालियाँ सुननी पड़ी, पर हम उनकी न्यायपरता की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं कि उन्होंने हमें ससार के नवयुवकों की कौन कहे, देवों के देव इन्द्र की बराबरी में बिठाने में भी सकोच न किया। इस देश के दुर्भाग्य से पाणिनि-जैसे उदार साहित्यकारों की शृङ्खला टूट गयी और उनके स्थान में संकीर्णहृदय लेखकों या कवियों का सिलसिला चल पड़ा। भर्तृहरि ने अपनी नीति और वैराग्य का ढिंढोरा खूब पीटा है, पर वह कैसी नीति है जिसमें किसी जाति का घोर से घोर अपमान हो, वह कैसा वैराग्य है जिसके भीतर जातिगत द्वेष भरा पड़ा हो।

* काचं माणि काञ्चनमेक सूत्रे मूढाः निबध्नन्ति, किमत्र चित्रम् ?
विशेषवित् पाणिनिरेक सूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ।

“लांगूल चालनमघश्चरणवपातं

भूमौ निपत्य बदनोदरदर्शनञ्च !”

“इवाः पिण्डस्पकुरुते गजपुयवस्तु,

धीरविलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ।”

कहा गया है कि कुत्ता, रोटी का टुकड़ा देनेवाले के सामने ऐसे ही ओछेपन का परिचय देता है। उधर हाथी का यह हाल है कि “धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते !” पर मैंने तो अपनी ज़िन्दगी में ऐसा एक भी हाथी न देखा जो भर्तृहरि के सर्टिफिकेट के अनुसार, सौ खुशामदे कराके ही कुछ सूड से उठाता हो। देखा तो यह है कि अकुश के सौ प्रहारों की भी परवा न करने हुए, मस्तराम, गरीब किसानों का धान या गन्ना जो कुछ सामने पड़ जाय, बात की बात में उदरस्थ कर देते हैं। हमारी जाति को बदनाम करने की, हमें नीच या निम्न बताने की, आपके साहित्य में इधर कुछ शताब्दियों से परिपाटी-सी चल पड़ी है। ऐसी अवस्था में यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं कि आपके सर्वश्रेष्ठ नेता महात्मा गांधी ने भी अपनी अहिंसा के दायरे से हमारी जाति को बाहर कर दिया है। जब महात्मा जी ने पागल मनुष्यों या पागल हाथियों के विषय में कुछ न कहकर पागल कुत्तों पर गोली चला देने की व्यवस्था दे दी, तब सुना है, उनके कुछ अनुयायियों को भी आश्चर्य हुआ। पर हमारी जाति ने तो अपने विषय में महात्मा जी से भी न्याय की आशा न की थी। आपका वायुमण्डल इतना दूषित है कि शुद्ध से शुद्ध आत्मा भी उससे निर्लिप्त नहीं रह सकती। हो सकता है, भविष्य में कोई दूसरा गांधी पैदा हो जिसकी अहिंसा हम कुत्तों के हक में भी अहिंसा साबित हो; पर इस समय तो परिस्थिति हमारे सर्वथा विपरीत ही है। आपके नीतिनिपुण नेता चाहे जो कहें, पर असलियत तो यह है कि पागल मनुष्य, पागल कुत्तों से कहीं अधिक भयंकर होते हैं। पर जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, इस विषय की यहाँ आलोचना करना मेरा उद्देश्य नहीं है।

पञ्चतन्त्र या हितोपदेश की रचना के समय के साहित्यसेवी, पशु-पक्षियों से सम्बन्ध रखना , उनके आचार-विचारों पर प्रकाश डालना लज्जाजनक कार्य नहीं समझते थे । पक्षपात होने पर भी उनका वह भाव हमारी दृष्टि से आदरणीय था । पर आजकल तो हमारी उपेक्षा ही उपेक्षा है । हम लोगों के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातें आपके साहित्य में स्थान पाने के योग्य नहीं समझी जाती । बच्चों के लिए जो पुस्तकें लिखी जाती हैं, और जो इने-गिने पत्र निकलते हैं, उनमें हमारे विषय की दो चार सच्ची भूठी कहानियाँ भले ही हों, पर स्थायी साहित्य या और सामयिक पत्रों का दरवाजा हमारे लिए बिल्कुल बन्द है । न कोई हमारा पुरसाहाल है, न कोई हमारी बात छापने को ही तैयार है । ऐसी अवस्था में मैं इस पत्र का कृतज्ञ हूँ कि इसने मेरे साथ अपने व्यवहार में उदारता दिखायी और वचन दिया कि मेरी यह खुली चिट्ठी मेरे देशवासियों तक पहुँचा देगा ।

मेरा जन्म शिमले से भी १७०० फीट की उँचाई पर उच्च सारमेय कुल में आज से दस बरस पहले हुआ था । मेरे माता-पिता वहाँ जंगल विभाग के एक अंगरेज अफसर की नौकरी करते थे, इसलिए मुझे जन्मकाल से ही अंगरेजों के आचार-विचार, रहन-सहन का अनुभव है । दो बरस बाद मैं शैल-शिखर से उतरकर नीचे आया, जिसका इतिहास यो है—

एक दिन मैं अपने मालिक के साथ रिक्शा गाड़ी में बैठकर अनन्डेल के मैदान में पोलो का खेल देखने गया । वहाँ उसका एक मित्र मुझ पर लट्टू हो गया । वह फौज में ऊँचे दर्जे का अफसर था और कुछ ही दिनों बाद सरहद के दौरे पर जानेवाला था । मेरे मालिक की इच्छा मुझे अलग करने की न थी, पर जब उसने अपने मित्र के ऊँचे पद का खयाल किया और जब उसे यह स्मरण हो आया कि फौज में उसके लड़के की तरक्की बहुत कुछ इसी मित्र की मर्जी पर निर्भर थी, तब उसने अपने असली भाव को दबाकर, मुझे बतौर भेट उसके साथ

कर दिया और चलते समय यही कहा—‘टोबी ! गुडबाइ ! ! मैं मनाता हूँ कि तेरा बाकी समय भी मुख से कटे।’

फौजी अफसर के एक और पालतू था। इसका जन्म सात समुद्र पार आयरलैंड के दक्षिण भाग में हुआ था और महासमर के समय यह कुछ महीने फ्रांस की खाइयों में बिता चुका था। पहले जब मेरी इसकी मुलाकात हुई, इसने मुझे कुत्तों में घृणित या अच्छत समझकर मेरे साथ वैसा ही व्यवहार किया। मैं उस समय किसी प्रकार की राजनीति से अभिज्ञ न था, इसलिए मुझे यह ज्ञान न हो सका कि टेरियर की टर्न का कारण क्या था। पर एक दिन उसका दुर्व्यवहार मेरे लिए असह्य हो उठा। उन दिनों हम सभी पेशावर की छावनी में ठहरे हुए थे। पास के मैदान में हम दोनों अपने मालिक के साथ टहलने निकले ही थे कि टेरियर ने मेरी ओर गुराकर कहा—‘हिन्दुस्तानी कोढी ! मुझसे अलग ही रह !’ मेरे क्रोध का प्याला छलक पड़ा और इस अपमान का बदला लेने के लिए मैं फौरन उस पर टूट पड़ा। टेरियर क्या बुलडाग भी होता, तो उस दिन जख्मी होने से न बचता। मैंने उसे दो-चार जगह काट खाया, और अगर मालिक ने आकर हम दोनों को अलग न कर दिया होता, तो सम्भव था टेरियर छावनी में जिन्दा न लौटता। कई हिन्दुस्तानी पास खड़े थे। सब एक स्वर से मेरी निन्दा करने लगे। मैंने मन ही मन कहा—‘तुम्हें क्या मालूम कि बात क्या थी !’

पर उसी दिन शाम को मैंने टेरियर के भाव में परिवर्तन पाया। वह मेरे पास आकर कहने लगा:—

‘भाई ! मुझे बड़ा खेद है कि मेरे मुख से वैसा अपशब्द निकल गया ! मैं सदैव मुल्क का रहने वाला, यहाँ की गर्मी से कभी-कभी बेचैन हो जाता हूँ। तब मेरी जबान मेरे वश में नहीं रहती। मैं बहुत लज्जित हूँ और तुमसे माफी चाहता हूँ।’

मैंने कहा:—

‘भाई ! मेरा भी यही हाल है। हिमालय की गोद से हजारों फीट

नीचे आ पड़ा हूँ। गर्मी मुझे भी कभी-कभी बेचैन कर देती है। पर कहो, घावों का क्या हाल है ! मैं उनके लिए तुमसे माफी चाहता हूँ !' और यह कहकर मैं उसके जख्मों को चाटते हुए उससे अपनी समवेदना दिखाने लगा।

तब से टेरियर मेरा मित्र बन गया। इस मित्रता का ही यह फल है कि मैं राजनीति की बातें कुछ-कुछ समझने लगा हूँ और मुझे अपने मुल्क की थोड़ी बहुत पहचान हो चली है। मेरे माता-पिता प्राचीन-पन्थी थे। भारतवर्ष किसे कहते हैं, उसमें हमारी जाति का क्या सम्बन्ध है, राष्ट्रीय मानापमान क्या वस्तु है—इन बातों की उन्हें कुछ भी जानकारी न थी। शायद इस टेरियर का साथ न होता, तो मैं भी उन्हीं की तरह अनभिज्ञ रह जाता। आज मैं अपने इस मित्र और गुरु का कृतज्ञता सहित सस्मरण करता हूँ और आशा करता हूँ कि वह अब मनुष्ययोनि पाकर अपने देश की सेवा में लग रहा होगा।

एक दिन टेरियर ने मेरे कान में कहा—'मैं अपने देश आयरलैण्ड को कभी भूल नहीं सकता। तुम लोगों को भी स्वदेशाभिमानी होना चाहिये और अपने मुल्क को आजाद बनाने में अपने देशवासियों का साथ देना चाहिये।'

मैंने कहा—'पर यहाँ हमारे लिए भी तो कोई स्थान हो ! इस देश में तो सबसे गये-गुजरे कुत्ते ही समझे जाते हैं।'

टेरियर बोला—'यार ! नादान की-सी बातें मत कर। पहले देश को स्वतन्त्र कर ले; फिर आपस का झगड़ा तय कर लेना। हमारे आयरलैण्ड में भी अभी कुत्तों को अपना हक नहीं मिला है।'

जिस समय देश भर में असहयोग आन्दोलन चल रहा था उस समय टेरियर ने फिर उसी तरह कहा—'तुम्हें भी इस आन्दोलन की जय मनानी चाहिये।' उसने यह भी सलाह दी कि जब मालिक की अपने दोस्तों से बातचीत हो रही हो, तब उसे ध्यानपूर्वक सुनने की चेष्टा करना। कभी-कभी बड़े काम की बातें सुनने को मिलेंगी।

कर दिया और चलते समय यही कहा—‘टोबी ! गुडबाइ ! ! मैं मनाता हूँ कि तेरा बाकी समय भी सुख से कटे।’

फौजी अफसर के एक और पालतू था। इसका जन्म सात समुद्र पार आयरलैंड के दक्षिण भाग में हुआ था और महासमर के समय यह कुछ महीने फ्रांस की खाइयों में बिता चुका था। पहले जब मेरी इसकी मुलाकात हुई, इसने मुझे कुत्तों में घृणित या अच्छत समझकर मेरे साथ वैसा ही व्यवहार किया। मैं उस समय किसी प्रकार की राजनीति से अभिज्ञ न था, इसलिए मुझे यह ज्ञान न हो सका कि टेरियर की टर् का कारण क्या था। पर एक दिन उसका दुर्व्यवहार मेरे लिए असह्य हो उठा। उन दिनों हम सभी पेशावर की छावनी में ठहरे हुए थे। पास के मैदान में हम दोनों अपने मालिक के साथ टहलने निकले ही थे कि टेरियर ने मेरी ओर गुराकर कहा—‘हिन्दुस्तानी कोठी ! मुझसे अलग ही रह !’ मेरे क्रोध का प्याला छलक पड़ा और इस अपमान का बदला लेने के लिए मैं फौरन उस पर टूट पड़ा। टेरियर क्या बुलडाग भी होता, तो उस दिन जख्मी होने से न बचता। मैंने उसे दो-चार जगह काट खाया, और अगर मालिक ने आकर हम दोनों को अलग न कर दिया होता, तो सम्भव था टेरियर छावनी में जिन्दा न लौटता। कई हिन्दुस्तानी पास खड़े थे। सब एक स्वर से मेरी निन्दा करने लगे। मैंने मन ही मन कहा—तुम्हें क्या मालूम कि बात क्या थी !

पर उसी दिन शाम को मैंने टेरियर के भाव में परिवर्तन पाया। वह मेरे पास आकर कहने लगा:—

‘भाई ! मुझे बड़ा खेद है कि मेरे मुख से वैसा अपशब्द निकल गया ! मैं सदैव मुल्क का रहने वाला, यहाँ की गर्मी से कभी-कभी बेचैन हो जाता हूँ। तब मेरी जबान मेरे वश में नहीं रहती। मैं बहुत लज्जित हूँ और तुमसे माफी चाहता हूँ।’

मैंने कहा:—

‘भाई ! मेरा भी यही हाल है। हिमालय की गोद से हजारों फीट

नीचे आ पड़ा हूँ। गर्मी मुझे भी कभी-कभी बेचैन कर देती है। पर कहो, घावों का क्या हाल है ! मैं उनके लिए तुमसे माफी चाहता हूँ !' और यह कहकर मैं उसके जख्मों को चाटते हुए उससे अपनी समवेदना दिखाने लगा।

तब से टेरियर मेरा मित्र बन गया। इस मित्रता का ही यह फल है कि मैं राजनीति की बातें कुछ-कुछ समझने लगा हूँ और मुझे अपने मुल्क की थोड़ी बहुत पहचान हो चली है। मेरे माता-पिता प्राचीन-पन्थी थे। भारतवर्ष किसे कहते हैं, उससे हमारी जाति का क्या सम्बन्ध है, राष्ट्रीय मानापमान क्या वस्तु है—इन बातों की उन्हें कुछ भी जानकारी न थी। शायद इस टेरियर का साथ न होता, तो मैं भी उन्हीं की तरह अनभिज्ञ रह जाता। आज मैं अपने इस मित्र और गुरु का कृतज्ञता सहित मस्मरण करता हूँ और आशा करता हूँ कि वह अब मनुष्ययोनि पाकर अपने देश की सेवा में लग रहा होगा।

एक दिन टेरियर ने मेरे कान में कहा—'मैं अपने देश आयरलैण्ड को कभी भूल नहीं सकता। तुम लोगों को भी स्वदेशाभिमानी होना चाहिये और अपने मुल्क को आजाद बनाने में अपने देशवासियों का साथ देना चाहिये।'

मैंने कहा—'पर यहाँ हमारे लिए भी तो कोई स्थान हो ! इस देश में तो सबसे गये-गुजरे कुत्ते ही समझे जाते हैं।'

टेरियर बोला—'यार ! नादान की-सी बातें मत कर। पहले देश को स्वतन्त्र कर ले; फिर आपस का झगड़ा तय कर लेना। हमारे आयरलैण्ड में भी अभी कुत्तों को अपना हक नहीं मिला है।'

जिस समय देश भर में असहयोग आन्दोलन चल रहा था उस समय टेरियर ने फिर उसी तरह कहा—'तुम्हें भी इस आन्दोलन की जय मनानी चाहिये।' उसने यह भी सलाह दी कि जब मालिक की अपने दोस्तों से बातचीत हो रही हो, तब उसे ध्यानपूर्वक सुनने की चेष्टा करना। कभी-कभी बड़े काम की बातें सुनने को मिलेंगी।

दूसरे ही दिन ऐसा अवसर मिला। मेरे मालिक अपने कुछ दोस्तों के साथ डिनर के लिए बैठे थे। शराब-कबाब की छूट थी। मैं टेबिल के नीचे अपने मालिक के पैरों के पास लेंटा हुआ था। उनके सभी दोस्त फौजी अफसर थे। बातों बात एक ने कहा—

‘सरकार के तो नाको दम हो रहा है। गांधी गजब का आदमी है।’

मेरे मालिक ने कहा—‘मैं हिन्दुस्तानी होता तो इस आन्दोलन को और ही ढंग से चलाने की सलाह देता। पर वह आदमी असाधारण है, इसमें सन्देह नहीं।’

थोड़ी दूर पर एक रेजिमेंट के मेडिकल आफिसर की स्त्री बैठी हुई थी। वह कहने लगी—

‘सब कुछ ठीक है। पर हडताल तो केवल मूर्खता और कृतघ्नता है। सो भी प्रिन्स के पधारने के दिन!’

उसके बायी ओर एक कर्नल मुर्गी की टांग पर छुरी चला रहा था। उसने जरा गरजकर कहा—

‘कृतघ्नता! गांधी मेरा नेता होता, तो मैं दिखा देता कि मैं क्या कर सकता हूँ!’

मेरे मालिक ने इधर से कहा—‘हडताल तो पहली सीढ़ी है। इन्हें इतने दिनों बाद सच्ची राह बतानेवाला मिला है। पर हां, यहाँ देशद्रोहियों की कमी नहीं है। हम लोग यहाँ अभी बरसों सुख से सो सकते हैं।’

मेडिकल आफिसर की स्त्री के लिए ऐसी बातें दिलचस्प न थी। उसने कहा—‘राजनीति को छोड़िये, कुछ और बातों की चर्चा कीजिए।’

इस पर जिसने यह प्रसंग छेड़ा था, उसने हँसते हुए कहा—‘बहुत खूब! पर जिन दोस्तों का जनरल ने अभी जिक्र किया और जिन्होंने कदम-कदम पर हमारा साथ दिया है, दे रहे हैं उनके नाम पर एक-एक ग्लास हम लोग क्यों न उत्सर्ग करें।’ और सबने ठहाका लगाते हुए शराब की ग्लास हाथों में लेकर कहा—

‘हमारे मित्र अजर अमर हो। उनकी औलाद बराबर बढ़ती रहे !’

सिर्फ मेरे मालिक ने उन्हें अपने मित्र न कहकर ‘देशद्रोहियो’ के नाम से याद किया। बात एक ही थी।

इसके बाद भी मुझे ऐसी बातचीत सुनने के कितने ही मौके मिले। और मेरी कई बार इच्छा हुई कि राष्ट्रीय आन्दोलन के विरोधी भारत-वासियों के सम्बन्ध में इन गोरे अफसरी के क्या वास्तविक विचार हैं, उनके लिए इनके कोष में कैसे सुहावने शब्द हैं, इसकी उन्हें किसी प्रकार सूचना दे दूँ। पर अब्बल तो उस समय मुझे इसका कोई उपाय नजर न आया, दूसरे मैंने सोचा कि एक कुत्ते की बात पर उन्हें विश्वास ही क्योंकर हो सकता है।

यह हुई इतने बरस पहले की बात। इस बीच की अपनी बीती सुनाऊ तो खासा पोथा बन जाय, यद्यपि उससे अंगरेज जाति की कूटनीति और मनोवृत्ति पर बहुत कुछ प्रकाश पड़े। किस्साकोताह, मैं इधर दो बरस से कलकत्ते में हूँ। यहाँ भी डेढ़-दो महीने से एक धनी मारवाड़ी व्यापारी का पालतू हो रहा हूँ। कलकत्ते में हर साल हम कुत्तों की एक प्रदर्शनी होती है। इस बार की प्रदर्शनी में मैं अपने अंगरेज मालिक के साथ तमाशा देखने गया था। वहाँ उक्त मारवाड़ी सज्जन को मैं पसन्द आ गया और उन्होंने अंगरेज को मुंहमांगा दाम देकर मुझे अपना दास बना लिया। मेरे आनन्द की सीमा न रही। सोचा कि जीवन में इतने बरस बाद अपने देशवासी की चाकरी करने का यह पहला अवसर मिला है। अब इससे लाभ उठाकर अपने उन अनुभवों का स्वदेश में प्रचार करूँगा जो अंगरेजों की संगति से प्राप्त हुए हैं। पर इतने थोड़े समय में ही अपने नये मालिक के रग-ढग देखकर सारी आशाओं पर पानी फिर गया है और मैं समझता हूँ कि यह किसी भयंकर पाप का परिणाम है कि मुझे अपने जीवन के सन्ध्याकाल में ऐसी जगह आना पड़ा है।

मेरे मालिक उस दल के हैं जिसने ३ फरवरी की हड़ताल को

विफल करने का बीड़ा उठा रखा था, पर जिसका मुंह उसकी सफलता से काला हो गया। वह मेरे भाव से परचित नही हैं, इसलिए इधर जहाँ-जहाँ गये, मुझे अपने साथ लेते गये। सरकारी कर्मचारियों, गोरे व्यापारियों और बंगाली बैरिस्टरों से उनकी जो बातें हुईं, उनका मुझे शब्दशः ज्ञान है। लाल बाजार में उनकी और उनके साथियों की करतूत देखकर मैंने उन्हें बहुत धिक्कारा और कहा कि “लानत है तुम्हारे मनुष्यत्व पर! तुमसे हम कुत्ते लाख गुने अच्छे”। पर या तो मेरी बात उनकी समझ में न आयी या उन्होंने जो कुछ मुना उसे अनमुना-सा कर दिया।

मेरे नये मालिक को छुआछूत की बड़ी फिक्र रहती है। उनका आचरण देखकर मुझे खयाल होता है कि कुछ मनुष्यों के स्पर्शमात्र से उनका धर्म भ्रष्ट हो जायगा। पर मेरे लिए यह सन्तोष की बात है कि वह मुझे अछूत नही समझते। बल्कि मैं स्वयं उनके संसर्ग से बचना चाहता हूँ। हड़ताल के दिन सुबह मोटर में बैठकर वह कहीं गये थे। मुझे साथ ले चलने की उन्होंने बड़ी कोशिश की, पर मैं किसी तरह राजी न हुआ। उन्होंने मेरी ओर क्रोध भरी नजर से देखते हुए कह—“कुत्ता नमकहलाल नही दिखता,” पर इतना तो मैं भी जानता हूँ कि नमक देनेवाला मुल्क है और मैं मुल्क के साथ हूँ।

जो हो, हड़ताल की सफलता पर आप लोगों को हार्दिक बधाई देता हूँ। अंगरेज जाति इस देश में अपना काम कर रही है, आप लोगों को अपना काम करना चाहिये। इतना अवश्य है कि स्वार्थ की वेदी पर देशहित का बलिदान करनेवालों के लिए उस जाति के हृदय में भी आदर या सम्मान नही है। फौज में आदर्शवादी नही होते, पर वहाँ भी इन्हें प्राइवेट बातचीत में गालियाँ ही मिलती हैं।

अन्त में एक प्रार्थना है। भर्तृहरि की जिन पंक्तियों को मैंने ऊपर उद्धृत किया है उनसे मेरी जाति की गहरी मानहानि होती है। पर मेरे मालिक की मनोवृत्ति के भारतवासियों के सम्बन्ध में वे अक्षरशः सत्य हैं।

“लांगूलचालनमघश्चरणावपातम्
भूमौ निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च”

यह किसी के विषय में चरितार्थ होता है, तो उन मारवाड़ी महाजनों के विषय में जो अभी उस दिन एक सरकारी अफसर के घर अपनी खैरख्वाही का सबूत देने गये थे और जिन्हें मैंने अपनी आँखों वहाँ यह अभिनय करते देखा था। क्या मैं आशा करूँ कि नीतिशतक के जितने नये संस्करण होंगे, उनमें कुत्ते की जगह यहाँ उस श्रेणी के लोगों का उल्लेख रहेगा? इस रूप में मुझे अब बहुत थोड़े दिन संसार में रहना है, पर मेरी देहान्तप्राप्ति के पहले यह संशोधन हो जाय, तो मैं देगद्रोही के दरवाजे पर भी सुख और शान्ति से अन्तिम सांस ले सकूँगा।

आपका हमवतन—

एक पहाड़ी कुत्ता।

(‘स्वतन्त्र’ के होली-विशेषांक से)

भूल

भूल किससे नहीं होती ? मुझ से भी होती है, पर बात यह है कि मेरी अन्तरात्मा भूल को भूल स्वीकार करना नहीं चाहती। मेरी उससे इस विषय में कई बार कहा-सुनी हो चुकी है। मैंने उसका ध्यान कई पुरानी उक्तियों की ओर आकृष्ट, और कभी-कभी आकर्षित किया। कहा कि भूलना-भटकना मनुष्य का स्वभाव है और उसकी भूलों को भूल जाना या उसे क्षमा प्रदान कर देना ईश्वर का। फिर क्यों न मैं अपनी प्रत्येक भूल को भूल मान लूँ और लोक-परलोक दोनों में भला बना रहूँ ? मेरी अन्तरात्मा पर इसका कुछ भी असर न पड़ा। उसने बार-बार यही जवाब दिया कि भोलेभाले ! जिस समाज में तुम्हें रहना है, जरा उसका भी ध्यान रखो। खुदा माफ़ कर देता है, पर खुदा के बन्दे माफ़ नहीं करते। इसलिए चतुर का काम यही है कि इस लोक में तो अपनी एक भी भूल न माने और उस लोक में—अपने अच्छे-बुरे कर्मों के विषय में निश्चित होने के लिए—यह कह दे कि “मुझसे संसार में भूल ही भूल हुई है, पर परमात्मन् ! आप अपने स्वभाव को देखिये, मेरी भूल को नहीं।” जब अन्तरात्मा ही ऐसा हठ करती है, तब मैं अपनी भूलों के सबध में दूसरी मनोवृत्ति का परिचय कैसे दूँ ?

कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सारा दोष मेरे ही मत्थे मढ़ते हैं। उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि मैं भूल स्वीकार करने के लिए तैयार रहता हूँ, पर मेरी अन्तरात्मा इसका विरोध करती है। उनका कहना है कि बात उलटी ही होगी। अर्थात् अन्तरात्मा तो कहती होगी कि जब भूल हुई है, तब उसे मान लो, पर तुम स्वयं उसके मत को ठुकरा देते होगे। उन भलेमानसों के विश्वास को मैं कैसे बदलूँ ? मैं यही कह सकता हूँ कि वे मेरी अन्तरात्मा को पूरी तरह पहचानते ही नहीं।

पर्दानशीन होने के कारण वह उनकी आँखों से ओझल रहती है, इसलिए उनकी कल्पना ने इसका ऐसा चित्र अंकित कर लिया है, जो सत्य से कोसों दूर है। मेरी अन्तरात्मा में कितनी दुष्टता, कितना दुराग्रह, कितना द्वेष है, उसकी उन्हें क्या खबर? दूर का ढोल सुहावन, यह कहावत जानते हुए भी वे अपने विश्वास की सत्यता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं देखते। मेरी अन्तरात्मा उनसे इतनी दूर है कि वैज्ञानिक करामातों के इस ज़माने में भी कोई उसकी परछाई तक नहीं देख सकता। हमारे कुछ भाई कभी-न-कभी चन्द्रलोक में पहुँच जायेंगे, मंगलग्रह तक हमारी दौड़-धूप होने लगेगी, पर मेरी अन्तरात्मा के रगरूप-रूपरेखा—का कोई कभी आभास भी पा जाय, यह संभव नहीं। एक तो उसकी परिस्थिति ऐसी ठहरी कि मेरे सिवा उसे कोई देख नहीं सकता। फिर उसपर तुरा यह कि हिन्दी भाषा-भाषी उसे स्त्रीलिंग मान बैठे हैं। सब की सहानुभूति उसीके साथ है। मैं अपने सबध में किसी से न्याय की आशा नहीं करता, पर असलियत यह है कि इन भाइयों की जैसी धारणा है, मेरी अन्तरात्मा वैसी दूध की धुली हुई नहीं है।

हाँ, तो मैं भूलों की बात कर रहा था। चाहे किसी की प्रेरणा से हो, चाहे मेरी अपनी इच्छा से, बात यह है कि मैं अपनी भूल कभी स्वीकार नहीं करता। आप छिद्रान्वेषण करते फिरते हैं तो कीजिये, समालोचको की सूची में नाम लिखाना चाहते हैं तो लिखाइये, मैं आप से स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि मैं अपना रास्ता नहीं छोड़ सकता। आप मेरी भूलों पर प्रकाश डालकर मुझसे यह नहीं कहला सकते कि “मुझे खेद है, मुझ से ऐसी भूलें हो गईं।” जिन सज्जन ने उन्हें बताने की कृपा की है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ। आशा करता हूँ कि जिस समय परमेश्वर के सामने मेरी भूलों का विचार होने लगेगा, उस समय वे क्षमा प्रदान का विरोध न करेंगे।” नहीं मैं उन इने-गिने व्यक्तियों में नहीं हूँ, जो भूल करने के बाद उसे ढंके की चोट कहते

फिरते हैं। मुझे एक भी अवसर ऐसा याद नहीं आता कि जब मैंने, हिमालय जैसी भूल की तो बात ही क्या, ककर जैसी भूल को भी भूल मान लिया हो। आपको शायद सुनकर आश्चर्य होगा कि मैं महात्मा जी के सत्य के प्रयोगों से अच्छी तरह परिचित हूँ, और किसी समय उनके ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी करने वाला था।

भूल मनुष्य मात्र से होती है। मुझ से भी भूले हुई हैं और भड़ी भूले हुई हैं। मुझे स्मरण है कि जब मैं एक दैनिक पत्र के लिए अग्रलेख लिखा करता था, तब एक बार भारत सरकार के बजट की आलोचना करनी पड़ी थी। मैंने उस विषय पर कई लेख लिखे थे, और प्रत्येक लेख में लाख को करोड़ मान लिया था। पाठकों में से किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया, पर एक ईर्ष्यालु सहयोगी ने नुकताचीनी किये बिना न रहा गया। मैंने अपनी सफाई इन शब्दों में दी—“इधर कुछ लेखों पर प्रेस के भूतों की ऐसी कृपा हुई है कि लाख से सन्तुष्ट न होकर वे करोड़ तक पहुँच गये। पाठकों को उनकी करतूत पर जरूर हँसी आई होगी। हमारे सहयोगी का हृदय कलुषित न होता तो वह भी समझता कि यह प्रेम के भूतों की लीला थी, लेखकों की भूल या भ्रान्ति नहीं।” ऐसे सभी लेखकों को प्रेस के भूतों का भारी भरोसा रहता है। इन भूतों में चाहे जितनी भयकरता हो, इनमें एक बहुत सुन्दर गुण है। वह यह कि जब हम इनका नाम लेकर दोष से बचना चाहते हैं, तब वे हमारी बात का खडन कर सारा गुड़ गोबर नहीं कर देते। प्रेस के भूत अगर राग-द्वेष से रहित न होते, तो सम्पादकों और उप-संपादकों के लिए यह ससार-सागर और भी दुस्तर हो जाता। जिन प्रेस के भूतों से हम मसि-जीवियों का इतना उपकार होता है, उनकी सद्गति के लिए हमें ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए, और उनसे प्रार्थना यह करनी चाहिए कि वे ऐसे ही परोपकारी बने रहें। जैसा कि पत्र-संपादक अपने नये लेखकों से निवेदन करना नहीं भूलते—‘भाशा है, आपकी ऐसी ही कृपा बनी रहेगी।’

समाज में रहनेवाले को समाज के आचार-व्यवहार को बराबर अपने मानसिक नेत्रों के सामने रखना चाहिए। अगर नवयुवकों के लिए अपने को छायावादी बताना फैशन-सा हो रहा है, तो उनके बीच किसी को भूल कर भी पन्त जी से पहले के कवि का नाम न लेना चाहिए। मैंने एक बार सूर और तुलसी का नाम ही नहीं लिया, बल्कि भूल से यह कह दिया कि आजकल के कवि उनकी तुलना में कुछ नहीं हैं—

“सूर सूर तुलसी शशी उडुगन केशवदास।

अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करहिं प्रकास ॥”

इस पर कुछ लोग बेतरह बौखला उठे। ऐसे ही उत्तेजनापूर्ण वायुमंडल में किसी समय सुरेन्द्रनाथ बनर्जी पर जूता फेंका गया था। मुझपर “पल्लव” की प्रति फेंकी गई। दोहे के तीसरे चरण में मुझ से भेदी भूल हो गयी थी, पर उस समय तो भूल स्वीकार करने से भी माफी न मिलती। इसी अवसर पर मुझे यह शिक्षा मिली कि भूल भेदी होने के साथ भयकर भी हो सकती है। मेरे छायावादी भाई ने क्रोध में आकर मुझ पर जो कुछ फेंका वह ‘पल्लव’ था। मैं इसे अपना भाग्य समझता हूँ। पर कल्पना कीजिये कि वह पल्लव न होकर लकड़ी का कुन्दा होता, तब मेरी क्या दशा होती?

यहाँ मुझे याद आता है कि प्राचीन अथवा अर्वाचीन कवियों की पक्तियों को दोहराते समय मुझ से प्रायः भूल हो जाती है। यह बात खास कर प्राचीन रचनाओं के संबंध में है। सुधाकर जी का वह दोहा जिस पर उन्हें भारतेन्दु जी से १०० रु० इनाम मिला था, मैंने एक बार इस प्रकार पढ़ लिया:—

“राजघाट पर बँधत पुल, जहँ कुलीन की ढेरि।

आज गये कल देखके, आजहिं लौटे फेरि ॥”

पीछे एक मित्र ने बताया कि शुद्ध पाठ ‘कुलियन’ है, क्योंकि “कुलीन” लोगों की भीड़ ऐसे स्थान पर कैसे लग सकती थी?

उसी दिन मुझे यह अनुभव हुआ कि पाठभेद का प्रधान कारण मनुष्य की भूल है। प्राचीन काव्य में ऐसी भूलों के लिए गुंजाइश ज्यादा है। इसीलिए वहाँ इतने पाठभेद मिलते हैं। मेरी जबान खड़ी बोली के साँचे में ढली है, उससे प्रायः ऐसे ही शब्द निकलते हैं, जैसे द्विवेदी जी के गद्य या गुप्त जी के पद्य में पाये जाते हैं। ब्रजभाषा तो राजा लक्ष्मण सिंह, सत्यनारायण कविरत्न या वियोगी हरि की भाषा हो सकती है, पर मेरी भाषा नहीं। उसके शब्दों को दुहराते समय मुझे क्षण-भर के लिए भी आत्मविश्वास नहीं होता कि मैं शुद्ध बोल रहा हूँ। फिर ब्रजभाषा अकेली नहीं है। वह अपने साथ अवधी, बुन्देलखड़ी, बैसवाड़ी, न जाने कितनी सहेलियों को लिये फिरती है। मैं एक शब्द को अवधी समझता हूँ और उसका अर्थ 'आम' करता हूँ, आप उसी को भरतपुरी की टकसाल का शब्द बताकर उसका अर्थ 'इमली' करते हैं। भोजपुरी और डिगल की तो मैं बात ही नहीं करता। एक तो भूलना मनुष्य का स्वभाव ठहरा, दूसरे प्राचीन हिन्दी में ऐसा गड़बड़भाला है। किसी प्राचीन पंक्ति को कहीं उद्धृत करना एक आफत मोल लेना है।

आगरे के आस-पास खड़ी बोली या ब्रजभाषा बोली जाती है, यह मैं नहीं कह सकता। इतना निश्चित है कि अवधी नहीं बोली जाती। शायद आपको मालूम होगा कि पंडित रामेश्वर भट्ट—आगरा निवासी ने “विनयपत्रिका” की एक टीका लिखी है। उसमें एक जगह ‘रोटी लूगा नीके राखै, आगेहू की बेद भाखै’—का अर्थ करते हुए आपने “रोटी लूगा” का अर्थ किया है “रोटी लूगा।” इस पर पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने कहीं कहा है कि:—

इस पद में “रोटी लूगा” का अर्थ “अन्न वस्त्र” स्पष्ट है। पर श्रीयुत भट्ट जी ने अर्थ किया है “रोटी लूंगा”। पूरबी शब्द ‘लूगा’ का अर्थ न जानने पर भी यदि भट्ट जी ने ‘लेना’ क्रिया के ‘लूंगा’ रूप पर ही विचार कर लिया होता तो इस प्रकार का अर्थ करने के

श्रम से बच जाते। 'लेना' क्रिया का 'लूना' रूप न ब्रजभाषा में ही होता है, न अवधी में।'

आगरा निवासी कभी-कभी बनारसी हिन्दी पर हँसते हैं। उन्हें याद रखना चाहिए कि बनारसवाले भी बदला ले सकते हैं। हिन्दी में एक बात बड़ी मजेदार है। जो चाहे, जिसकी हिन्दी पर हँस सकता है कोई बैसवाड़ी का नाम लेकर, कोई छत्तीसगढ़ी की दुहाई देकर। यह अधिकार केवल बिहारियों को नहीं है। हिन्दी में यह सर्वसम्मत सिद्धान्त-सा है कि बिहारी हिन्दी पर सभी हँस सकते हैं, पर बिहारवाले अपने प्रान्त से बाहर की हिन्दी पर हँसने का अधिकार नहीं पा सकते !

पर मैं देखता हूँ कि प्राचीन की तरह अर्वाचीन कविता में भी भूल की गुंजाइश बढ़ती जा रही है। मैं कह चुका हूँ कि द्विवेदी जी और गुप्त जी के शब्दों को मैं बेखटके दोहरा सकता हूँ; पर गुप्त जी अपना रास्ता छोड़ रहे हैं, मैं उनकी भाषा कब तक बोल सकता हूँ। इतने दिनों तक वे शुद्ध सर्वसम्मत हिन्दी की चौड़ी सड़क पर चलते रहे, पर अब वह भी उन गलियों से प्रेम करने लगे हैं जो झाँसी में या उसके आसपास के गाँवों में पायी जाती हैं। जिसे विश्वास न हो, वह उनका 'गुरुकुल' काव्य या उसकी भूमिका पढ़ देखे। बुन्देलखंडी को एक बहुत अच्छे और बड़े सहायक मिल गये, पर मुझ जैसों के लिए प्रचलित गद्य-पद्य में परीक्षोत्तीर्ण होना और भी कठिन हो गया।

गुप्त जी ने अपने इसी काव्य में एक जगह लिखा है:—

“रपट पड़े की हरगंगा में

मिट सकता है क्या उपहास।”

इसका अर्थ बताते हुए आपने स्वयं कहा है:—“रपट पड़े की हरगंगा’ एक कहावत है जो इस ओर प्रसंगानुसार कही जाती है। मालूम नहीं, और कही इसका प्रचार है या नहीं।” कम-से-कम मेरे प्रान्त में नहीं है। पर मैंने इस पंक्ति को यह दिखाने के लिए उद्धृत

किया है कि मुझ से ऐसे शब्दों को दोहराते समय कभी-कभी बड़ी ही भद्दी भूल हो जाती है। अभी हाल में एक साहित्यिक सभा में बोलते हुए मैंने इसे यों कहा—

कपट भरे की हरगंगा में

मिट सकता है क्या उपहास ?

ऐसी भूलें वास्तव में अक्षम्य हैं, और इनके कारण होनेवाला उपहास अमिट है।

('विशाल भारत' से)

जूते

साहित्य में जूतों का क्या स्थान है या यो कहा जाय कि साहित्य-सेवियों का जूतों से कैसा सबध रहा है, इस विषय की विवेचना करने से पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस लेख का किसी विचारा-धीन मामले से कुछ लेना-देना नहीं है। समालोचना को सार्थक करने के लिए, जूतों का प्रयोग भारतवर्ष में कब से चला, यह कहना कठिन है। स्वामी, दयानन्द जी के गुरु स्वामी विरजानन्द जी को कुछ लोग इस प्रथा का प्रवर्तक मानते हैं, और पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने एक विशेष अवसर पर उन्हें जूतेबाज मंन्यासी के नाम से पुकार कर आर्य-समाज में काफी खलबली मचा दी थी। स्वामी विरजानन्द जी प्राचीन काल के दो-एक ऋषियों के विरोधी थे, और उनका विरोध इतना बढ़ा-चढ़ा था कि वृद्धावस्था में भी वह समालोचना में संयम का पालन करने में असमर्थ थे। किवदंती है कि वह जिस ऋषि पर विशेष क्रुद्ध होते, उसकी मिट्टी की प्रतिमा बनाकर उस पर जूतों का प्रहार करते। मालूम नहीं, असलियत क्या थी; पर द्विवेदी जी ने उन्हें जो विशेषण दिया, वह भारतवर्ष के एक सजीव समाज को अत्यन्त आपत्तिजनक जँचा और थोड़े समय के लिए एक खासा आंदोलन खड़ा हो गया। सुना जाता है, अतः में द्विवेदी जी ने 'कर कुठार आगे यह सीसा' कहते हुए अपना सिर आर्यसमाज के सामने कर दिया और इसका असर यह हुआ कि विरोधी शांत हो गए। द्विवेदी जी को और विषयों पर लेख लिखने की फुर्सत मिल गई।

साहित्य में समाज के जीवन का प्रतिबिम्ब रहता है, इसलिए जिस प्रश्न से यह लेख आरम्भ होता है, उसका यथार्थ उत्तर पाने के लिए

यह जानना आवश्यक है कि समाज में जूते किस नजर से देखे जाते हैं? कहा जाता है कि जमाना बदल रहा है, क्रांति की लहर चारों ओर फैल रही है। इसमें सन्देह नहीं कि परिवर्तन काफी हो चुका है, हो रहा है और होनेवाला है। पर क्या जूतों के प्रति हमारे हृद्गत भाव में भी कोई अन्तर पड़ा है या हमारा दृष्टिकोण बदला है? यह बताना व्यर्थ है कि कुछ मारवाड़ी सज्जन चमड़े की जगह कपड़े का व्यवहार कर रहे हैं या साबरमती-आश्रम से चप्पलों की रफ्तानी हो रही है। मैं तो यह जानना चाहता हूँ कि क्या हमारे साम्यवादी भाई भी जूतों की वकालत करने और उनके लिए लड़ने-मरने को तैयार हैं? अर्थात् जब ऊँच-नीच के भेद के लिए इस बीसवीं सदी में स्थान नहीं है, तब पैर के जूते आपके सिर की पगड़ी से किसी भी बात में कम क्यों माने जायें और साम्यवादियों या क्रांतिकारियों के प्रोग्राम में उन्हें उनका उचित स्थान क्यों न मिले?

कुछ दिन से कलकत्ते के अखबारों में जूतों की काफी चर्चा है। कल रात मैंने देखा कि मेरे कमरे के बाहर बरामदे में जूतों की विराट सभा हो रही है और बड़े जोशीले व्याख्यान हो रहे हैं। स्त्रियों की ओर से कोई आपत्ति न हो, इसलिए जहाँ जूते इकट्ठे हुए थे, वहाँ जूतियाँ भी थीं। दूसरी बात मार्को की यह थी कि गोरे-काले, मगरिबी-मशरिकी का कोई भेद न था—चौरंगी के ह्वाइटवे लेडला, वेंटिंग स्ट्रीट के ह्वाक्वांग-च्वांग, कालेज स्ट्रीट की ग्वालियर टैनरी और मछुआ बाजार के आसपास की देशी दूकानों के माल एक प्लेटफार्म पर अपनी-अपनी विभिन्नता को भूलकर सम्मेलन-सुख का अनुभव कर रहे थे। मुझे यह भी जान पड़ा कि मेरी चट्टी सभा की कार्यवाही में पूरा भाग ले रही है। मुझे इस समय याद नहीं कि किसने क्या कहा, कितने प्रस्ताव पास हुए; पर उस भारी-भरकम बूट की बातें जिसे सभापति का आसन प्रदान किया गया था, मेरे कानों में इस समय भी गूँज रही है—

“हीन हों हम किन्तु रखते मान हैं ।

गो-प्रमुख पशु-जाति की सन्तान हैं ।

न्याय से अधिकार अपना चाहते;

कब किसी से मांगते हम दान हैं” ।

सोचने की बात है कि जूतो के प्रति प्रचलित व्यवहार कौन-से न्याय की भित्ति पर अवलम्बित है? साफ-से-साफ जूतो के लिए आज हजारों नहीं, लाखों घरों के द्वार बंद हैं, और गद्दी-से-गद्दी टोपी या पगड़ी के लिङ्ग कोई स्कावट नहीं है। बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त ने जूतों के सबध में जो ऐलान कर रक्खा है, उससे काशीवासी तो क्या, भारतवासी भी कुछ परिचित हो चले हैं; पर अगर उससे कोई निष्कर्ष निकाले कि गुप्त जी अछतों के हिमायती नहीं या उनके लिए मदिरों का दरवाजा बन्द रखना चाहते हैं, तो यह उसकी भयंकर भूल होगी। वास्तव में बात यह है कि साम्यवादी होते हुए भी और क्रांति की वेदी पर अपने आपको बलिदान कर देने के लिए तैयार रहते हुए भी लोग अभी जूतो को उसी निगाह से देखते हैं, जिससे वे हजार या लाख बरस पहले देखे जाते थे। इस विषय में सनातनी और सुधारक, प्राचीनपंथी और परिवर्तनवादी सभी समान हैं। पर जूते अपना अधिकार चाहते हैं किसी के दयादान के भिखारी नहीं हैं।

शूद्र ईश्वर के पैरों से निकले थे, यह लिखकर किसी अदूरदर्शी ने हिंदू समाज की जो हानि की, वह अकथनीय है। इसमें जो आक्षेप या अपमान है, उसे दूर करने की या वास्तविक अर्थ समझाने की इधर कुछ बरसों से पूरी चेष्टा हो रही है। व्याख्याता बराबर इस पर जोर देते हैं कि पैरों का महत्व और किसी अंग से कम नहीं है, इसलिए लिखनेवाले का उद्देश्य शूद्रों की उपयोगिता सिद्ध करना था, न कि उन्हें हीन बताना या उन्हें नीचा दिखाना। मैं स्वयं आज तक किसी नतीजे पर न पहुँच पाया कि उस लेखक का अभिप्राय क्या था, पर मुझे अच्छी तरह मालूम है कि पैर या लात के संबंध में हमारी रूढ़ियाँ

क्या है और उन्हें दूर करने के लिए कैसे प्रयत्न या आंदोलन की आवश्यकता है। जब पैरों का यह हाल है, तब जूतों का क्या कहना ! कहने के लिए हमारे नेता कह देंगे कि जूतों का दर्जा टोपी या पगड़ी से कम नहीं है, बल्कि उपयोगिता की दृष्टि से तो जूतों को ऊँचा स्थान दे देंगे; पर व्यवहार में जैसे अभी पैर पैर और शूद्र शूद्र है, वैसे ही अभी बहुत समय तक जूते जूते ही रहेंगे।

साम्यवाद की दिल्ली अभी बहुत दूर है। जिन व्याख्याता ने कल अछूतों की सभा में 'पद्म्यां शूद्रोऽजायत' का वास्तविक अर्थ बताते हुए पैरो का गुणगान किया था और उनकी प्रशंसा के पुल बाँधे थे, वह मुझे क्षमा करें अगर मैं यह कहूँ कि वह स्वयं रूढियों के दास हैं और उनके हृदय में पैरो का वह महत्व नहीं जो उनकी जवान पर है। अगर किसी को इसकी सत्यता पर विश्वास न हो, तो वह 'पद्म्याम्' उनका सत्कार करके देख लें। वही अवस्था जूतों के संबंध में भी है। मैं अपनी पगड़ी उतारकर आपके सामने रख दूँ, तो आप गद्गद् हो जायेंगे, पर अगर मैं अपने जूते..... विशेष कहने की आवश्यकता नहीं। जूतों में चाहे जितनी भलाई हो, सेवा का भाव हो, सद्गुणों का सन्निवेश हो, पर कोई उनका स्वागत करने या उनके स्पर्श पर प्रसन्नता प्रकट करने को तैयार नहीं है।

यही कारण है कि साहित्य में भी जूतों का स्थान इतना नीचा है। उर्दू के उस महाकवि की पंक्तियाँ याद कीजिए—

बूट डासन ने बनाया,
मैंने एक मजमूँ लिखा;
हिन्द में मजमूँ न फैला,
और जूता चल गया।

इसमें कवि ने समाज के प्रकृत भाव को प्रकट कर यह दिखाया है कि जूतों को हम-आप क्या समझते हैं और अभी हमारा समाज उस मंजिल से कितनी दूर है, जहाँ गोरे और काले, पूंजीपति और मजदूर, ब्राह्मण

और अच्छूत, जूते और साफे—सब समान समझे जायँगे और जूतेबाजी का वह अर्थ न रह जायगा जो आज है।

हाँ, इस बीच में वह पत्र जो विशेषांकों के इतिहास में अमरत्व पाने का इच्छुक हो, अगर एक जूतांक निकालने का आयोजन करे, तो उसकी और भी बड़ाई और भलाई हो। क्रांतिकारी साहित्य में वह अंक विशेष स्थान रखनेवाला होगा और जैसे साधारण 'प्रगति' में जूते सहायक होते हैं, वैसे ही मानव-समाज की 'प्रगति' में वह विशेषांक सहायक होगा।*

('स्वतन्त्र' के मारवाड़ी अंक से)

— — —

* 'स्वतंत्र' के साधारण मारवाड़ी-अंक से माधुरी के ३०३ तुलसी सं० के विशेषांक में भी उद्धृत किया गया था।

लाल फीता

सरकारी दफ्तरों में लाल फीते का व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय हो चला है। दिल्ली से लेकर एक ओर लन्दन और दूसरी ओर वाशिंगटन तक इसकी खपत मनो में नहीं, टनों में होती होगी, यद्यपि आयात-निर्यात सम्बन्धी आँकड़ों से यह पता नहीं चलता कि किस देश में लाल फीता कितना बना—कितना माल वहाँ खपा, कितना बाहर गया—आयात पर संपूर्णतः या विशेषतः निर्भर करनेवाले देश ने चावल या गेहूँ से भी आवश्यक इस वस्तु का मूल्य किस मुद्रा में चुकाया—वह मुद्रा उसे कैसे प्राप्त हुई—अन्तर्राष्ट्रीय लेन-देन पर उस आयात-निर्यात का क्या असर पड़ा—अगर कभी कोई उलझन पैदा हुई तो उसे सुलझाने के लिए पेरिस या जेनेवा या न्यूयार्क में कौन-सा महा-सम्मेलन हुआ—और उसमें भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व किन राजनीतिज्ञों या अर्थनीतिज्ञों ने किया।

भारत सरकार के अर्थ-विभाग और व्यापार-विभाग की ओर से इधर १९१४ और १९४९ के बीच के ३५ वर्षों में, विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन, खपत, आयात-निर्यात आदि से सम्बन्ध रखनेवाला जो अंक-साहित्य प्रकाशित हो चुका है, वह प्रशान्त महासागर नहीं तो अरब समुद्र या कम-से-कम बंगाल की खाड़ी को भरने लायक तो अवश्य ही कहा जा सकता है; पर उसमें डूबकर खोज करनेवाले को भी कहीं लाल फीते का नाम नहीं मिलता। सूत से ही नहीं, धागे तक से सम्बन्ध रखनेवाले आँकड़े काफी मिलते हैं, पर लाल फीते के विषय में जिज्ञासा रखनेवाले को प्रकाश के अभाव में, अन्धकार में ही भटकना पड़ता है। यह चुप्पी क्यों? क्या हमारी सरकार उस फीते से अपरिचित है? क्या हमारे अधिकारी प्रति दिन लाखों गज फीते का व्यवहार नहीं करते?

सकोचवश या लज्जावश भले ही वे अपनी जवान से यह न कहें, पर भुक्तभोगियो से यह बात छिपी नहीं कि इस देश में, लोगों की आय को देखते हुए, लाल फीते पर अत्यधिक ही व्यय होता है, और तुरा यह कि उस व्यय में दिन-दिन वृद्धि होती जानी है। आखिर इतना लाल फीता कही मुफ्त तो मिलता न होगा।

इस देश में आदमी पीछे कागज की खपत साल में एक पौड या आधमेर बतायी जाती है। इसी में सब कुछ शामिल है—एक ओर वर्णपरिचय से लेकर रामायण-महाभारत तक—‘अगर ऐसे ग्रंथ अब भी प्रकाशित होते हो तो’—दूसरी ओर प्रयाग के ‘सगम’ से लेकर मद्रास के ‘आनन्द विकटम’ तक—तीसरी ओर जूते या चप्पल के बक्स से लेकर रेल या ट्राम के टिकट तक—और चौथी ओर टोकरी की रद्दी से लेकर उन कागजी घोड़ों तक जो हर सरकारी महकमे में, दफ्तर या सेक्रेटेरियट में दिन-रात दौड़ते ही रहते हैं। गत महासमर का एक फल यह हुआ कि सर्व-साधारण के लिए तो कागज का अकाल हो गया और सरकारी मैदान में जहाँ पाँच कागजी घोड़े दौड़ा करते थे वहाँ अब पच्चास दौड़ने लग। फिर उन घोड़ों के लिए लगाम की जरूरत पड़ी, जिसका नतीजा यह हुआ कि लाल फीते का व्यवहार भी कहीं-से-कहीं बढ़ गया।

‘लाल फीता’ उन वस्तुओं में है जो अपने दुरुपयोग के कारण ही बदनाम हो गयी है। वास्तव में बिखरे हुए कागज-पत्रों को फीते से बाँधकर रखना एक बात है, उन्हें बाँधकर ताक पर रख देना दूसरी बात। तीसरी—और विशेष आपत्तिजनक—बात है उस फीते की सहायता से एक ऐसा कागजी ढाँचा तैयार करना जिसमें राष्ट्रीय धन, समय और शक्ति का तो अपव्यय हो, पर जो किसी भी दिशा में किसी भी प्रकार की प्रगति न होने दे। यही कारण है कि मूलतः निर्दोष होते हुए भी अब ‘लाल फीता’ केवल उस अटकाव या अड़चन का पर्यायवाची हो चला है जो नौकरशाही किसी भी काम में डाले

बिना नहीं रह सकती। यह समझना भूल है कि १५ अगस्त सन् १९४७ को नौकरशाही का भी खात्मा हो गया। जिस दफ्तर में जाकर देखिये वह मौजूद है और कांग्रेस-मन्त्रिमंडल के बावजूद भी मंछों पर ताव दे रही है। यह 'लाल फीता' उसी के हाथ का अमोघ अस्त्र है जिसका प्रयोग कर वह जब चाहें सरल को भी कठिन और सभ्य को भी असंभव बना सकती है। पहले जमाने में किसी राष्ट्र या राष्ट्रपति के रथ के मार्ग में रोड़े अटकाये जाते थे। आधुनिक रीति-नीति उससे भिन्न है। आज-कल तो रथ, उसके सवार, सारथि और घोड़े—सब-के-सब लाल फीते से इस तरह जकड़बन्द कर दिये जाते हैं कि मार्ग सुगम होते हुए भी कोई एक कदम आगे नहीं बढ़ सकता। अर्जुन कृष्ण से पूछते हैं कि भगवन् यह गतिरोध क्यों? कृष्ण उन्हें सलाह देते हैं कि धनुर्बाण से इस बन्धन को काट डालो। नौकरशाही मन-ही-मन यह कहकर उन पर हँसती है कि बलिहारी है इस सूझ की—इस बन्धन की तो यही विशेषता है कि कटते ही वह जुट जाता है और पहले की अपेक्षा और भी प्रबल हो जाता है।

विकासवाद की थोड़ी-सी जानकारी रखनेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि जो स्थिति आज है वह किसी-न-किसी रूप में कल भी थी। अर्थात् चीफ सेक्रेटरी, सेक्रेटरी, क्लर्क आदि की जगह किसी समय मीर मुन्शी, मुन्शी, मुहर्निर आदि होते थे जो आक्षेप, आलोचना, आपत्ति या नुक्ताचीनी करने में आधुनिक अधिकारियों से किसी भी अंश में न्यून नहीं कहे जा सकते थे। इसका एक उदाहरण लीजिये—

औरंगजेब के शासनकाल में बंगाल का एक नाजिम शाइस्ता खाँ हुआ। बड़ा हिन्दूद्वेषी था और अपने सम्राट की धर्मान्धता का अनुकरण करने में बहुतो से बाजी मार ले गया। पर उसकी आर्थिक नीति को सर यदुनाथ सरकार ने भी प्रशंसनीय बताया है। कहा जाता है कि उसके शासन-काल में कृषि और वाणिज्य की अच्छी उन्नति हुई।

पर इनकी उन्नति चाहे जैसी हुई हो—अन्न चाहे जितना सस्ता बिकता रहा हो—दफ्तर की दुनिया प्रायः वही थी, जो आज है। मुह्रिरों से काम पड़ने पर सर्व-साधारण को उसी प्रकार हैरान-परेशान होना पड़ता था, जिस प्रकार आज होना पड़ता है।

इस सम्बन्ध में यदुनाथ सरकार ने एक सैनिक पदाधिकारी का साक्ष्य उद्धृत किया है। यह मुसलमान था और जिन मुह्रिरों की इसने आलोचना की है, वे प्रायः हिन्दू थे। यह ध्यान में रखते हुए भी हमें स्वीकार करना पड़ता है कि उसकी बातों में बहुत कुछ सच्चाई थी। शाइस्ता खाँ ने औरंगजेब के आदेश से व्यापारियों के सुभीते के लिए, हासिल 'जकात' नामक करो या अबबाबो को उठा दिया था। इस पर सतोष प्रकट करता हुआ शहाबुद्दीन तालिश लिखता है:—

“काश कि सम्राट की जैसी कृपा किसानों और व्यवसायियों पर हुई है, वैसी ही बेचारे सैनिकों पर भी होती और उन्हें मुह्रिरों के अत्याचारों से मुक्ति मिल जाती।

“दावात से किसी मुह्रिर की कलम बाहर निकली तो समझ लो कि साँप अपने बिल से बाहर आ गया। उसकी जहरीली कलम या जबान से प्रत्येक शब्द किसी-न-किसी सैनिक को उसने या उसके वेतन में से कुछ काट खाने के लिए ही होगा।

“अपना वेतन पाने के लिये हर सवार को कई मंजिलें तय करनी होती हैं, कई अवघट घाटियों से गुजरना पड़ता है। पहले तो उसके 'फर्द चेहरा' पर मुह्रिर के दस्तखत होने चाहिये। अगर मुह्रिर की माँग पूरी कर सवार ने यह खाई पार भी कर ली तो थोड़ी ही दूर आगे बढ़ने पर उसे भयंकर चट्टानों का सामना करना पड़ेगा। उसका घोड़ा कितना ही तेज क्यों न हो 'दाग' के दिन वह मुह्रिर के निगाह में खच्चर का काम करने लायक ही ठहरेगा और 'तसही' के दिन तो ऐसा अन्धेरखाता खुलेगा कि अगर घोड़ा सीधा खड़ा रहा तो 'गाड़ी में जोतने लायक,' अगर उसने कोई पैर मोड़ लिया

तो 'लँगड़ा' और अगर वह जरा भी चमका तो 'अदेशनाक' ठहरे बिना न रहेगा। इन मुह्रिरों की निगाह में जिरह या बस्तर तो कागज का जामा है और फौलादी टोप बस मलमल की दोपल्ली।

“जिस किसी को इन मुह्रिरों से वास्ता पड़ता है, वह मंजिले-मकसूद पर तभी पहुँच सकता है जब कि उसकी उम्र काफी लंबी हो, उसका धैर्य असीम हो और रिश्वत देने के लिए उसके पास कार्रू का खजाना हो। उस अधेर-नगरी में एक शब्द पूरा लिखने के लिए दस मुह्रिरों की जरूरत पड़ती है।

“इन भलेमानसों का ध्यान बराबर इस ओर रहता है कि सिपाही के खाते में जमा तो कम-से-कम हो और उसके नाम अधिक-से-अधिक निकले। जो रकम जमा होनी चाहिए वह इनकी भूल से भी सिपाही के नाम लिख दी गई तो वह गलती कभी दुरुस्त होने की नहीं। जब पूछो, तब यही जवाब मिलेगा कि हमारा वहीखाता कभी भूठ नहीं बोलता। अगर ये मुह्रिर किसी पर बहुत खुश हुए तो उसे यह पुर्जा लिख कर दे देंगे कि 'अदमावाद' सरकार के बीरानपुर परगने के खानाखराब जागीरदार के नाम यह परवाना भेजा जाता है। हिदायत है कि वह इस सिपाही का वर्षों का हिसाब बेबाक कर दे, क्योंकि जहाँ एक दिन की तनख्वाह कटनी चाहिए वहाँ इनकी कारस्तानी से एक साल की कट जाती है और जिसके जिम्मे नाज का एक दाना निकलना चाहिये वहाँ उसके मरने या मारे जाने पर उसके कुटुम्ब से गधे के पूरे बोझ के बराबर नाज वसूल कर लिया जाता है।

मुंशियों या मुह्रिरों की मनोवृत्ति का जैसा कटु अनुभव इस लेखक को सत्रहवीं सदी में हुआ था वैसा ही अनुभव बीसवीं सदी में संयुक्त प्रान्त के एक किसान को हुआ—यद्यपि इस बीच में बहुतरे उलट-फेर हो चुके थे, और दफतर के पुराने मुन्शी, मीर मुन्शी और मुह्रिर अपना-अपना कलेवर बदलकर, हेडक्लर्क, चीफ सेक्रेटरी और न जाने क्या-क्या बन चुके थे। पिछले महासमर के समय

किसी जिले के कलक्टर अपने दौरे पर किसी किसान की बैलगाड़ी साथ ले गये। दौरा समाप्त होने से पहले ही उस गाड़ी के दो बैलों में से एक की मृत्यु हो गयी। कलक्टर ने सरकार से सिफारिश की कि किसान को उस बैल की कीमत दे दी जाय। लखनऊ सेक्रेटेरियट के इतिहास में इस तरह की सिफारिश एक बिल्कुल नयी बात थी। पहले तो माल-विभाग महीनो यह गवेषणा करता रहा कि ऐसी ही परिस्थिति में पहले कभी किसी किसान को सरकार से मुआवजा मिला था या नहीं। जब उस गवेषणा का फल यह निकला कि ऐसी कोई भी नजीर नहीं थी, तब कलक्टर को इसकी सूचना भेज दी गयी। पर उससे चुपचाप बैठते न बना। उसने फिर सरकार से लिखा-पढ़ी शुरू की और इस बात पर जोर दिया कि नजीर या मिसाल के न होने का यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता था कि विशेष परिस्थिति में भी सरकार कुछ भी हमदर्दी न दिखावे और जहाँ किसान को सरकारी काम में ही क्षति हो चुकी थी, वह उसे कुछ भी मुआवजे के तौर पर न दे। उसका यह लिखना था कि अर्थ-विभाग की ओर से सिद्धांत-सबधी कुछ ऐसी आपत्तियाँ की गयी कि उस कलक्टर को भी निरुत्तर हो जाना पड़ा। पर बात नहीं समाप्त हुई। कुछ ही दिन बाद प्रान्त के प्रत्येक कलक्टर के पास सरकार का यह आदेश पहुँचा कि जब कभी भाड़े पर कोई बैलगाड़ी, वहेली, छकड़ा या तागा मँगाया जाय तब उसके मालिक को स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया जाय कि अगर कोई बैल ग्रा घोड़ा या अन्य जानवर जो उसमें जुता हुआ हो, किसी भी कारणवश सरकारी काम पूरा करने से पहले ही मर जायगा तो उस हालत में भी सरकार किसी भी तरह का मुआवजा या हर्जाना देने के लिये जिम्मेवार न होगी।”

यह कहानी यहाँ कुछ पक्तियों में ही पूरी कर दी गयी है। वास्तव में यह इतनी लम्बी चौड़ी है कि सब बातों के सांगोपांग वर्णन के लिए एक पोथा नहीं तो एक पोथी अवश्य चाहिये। अन्त में एक पदाधि-

कारी के कहने-सुनने पर, अर्थ-विभाग ने एक तीसरा नेत्र मूद कर, “महासमर-कालीन परिस्थिति में उस एक किसान के प्रति विशेष उदारतापूर्ण व्यवहार” करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया और उस गरीब को सौ-दो-सौ मिल जाने पर इस प्रसंग की समाप्ति हुई। पर तब तक वह किसान उस मुआवजे की रकम से कहीं अधिक का कर्जदार हो चुका था और दौड़ते-दौड़ते उसके तलुओं में कितने छाले भी पड़ चुके थे।

‘लाल फीता’ देश-काल के अनुसार अपना रंग-रूप बदलता रहता है। बिहार में तो शायद लाल की जगह अब सफेद फीता ही काम में आनेवाला है; पर उसका ध्येय बराबर यही रहता है कि अन्तिम निर्णय या तो नकारात्मक या निषेधात्मक हो, और जहां स्वीकृति देनी ही पड़े वहाँ पर इतनी देर से दी जाय कि पाने वाले को उससे लाभ नहीं के ही बराबर पहुँचे। जिस देश में इस फीते की खपत कम होगी, वह प्रगतिशील और सुखी होगा। जहाँ इस फीते की छूट होगी, वहाँ की दशा ठीक इसके विपरीत होगी। इस फीते के बिना किसी भी सरकार का काम नहीं चल सकता, पर आवश्यक यह है कि अगर उसमें ऐसी योग्यता हो, तो वह इसकी लम्बाई या बुराई को एक हद से आगे न जाने दे।

शासन के क्षेत्र में ‘लाल फीता’ ही ऐसा मूत्र है जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य, तीनों ही ग्रथित कहे जा सकते हैं। शासन-प्रणाली बदलती रहती है और उसके अनुसार और बातें भी। परिवर्तन-शीलता के नियमानुसार, संघटन-विधान-निर्वाचन-सदस्यता-मंत्रित्व जैसी चीजों की शकल भी बदले बिना नहीं रह सकती। पर जब तक संसार में सरकार नाम की कोई संस्था है, तब तक शासक कोई हो, उसे नाच नचानेवाली नौकरशाही रहेगी ही। वह अजर-अमर है जिसका अर्थ यह होता है कि ‘लाल फीता’ भी अजर अमर अथवा शाश्वत है। इसका नियंत्रण तो किया जा सकता है, पर इसका नाश नहीं किया

जा सकता । जो आदर्शवादी कभी-कभी उसे नष्ट कर देने की बात कह बैठते हैं उन्हें यह याद रखना चाहिये—

“फीता-खाना यह है तो जाहिद ! तिलिस्म-खाना नहीं जो टूटे,
कि तोबा करती गयी है तोबा अभी यहाँ से शिकस्त खाकर !”

('संगम' अप्रैल, १९४९ ई०)

—

पत्तियों के पूर्वज

सृष्टि कैसे हुई? यह सभी जानना चाहते हैं। पर “हुई” पर जोर देने से हम गुमराह हो सकते हैं। यह समझना भूल है कि सृष्टि हो चुकी—इस समय नहीं होती या अब आगे न होगी। वास्तव में यह काम जब से शुरू हुआ था तब से आज तक जारी है और आगे भी न जाने कितने दिनों तक जारी रहेगा। सृष्टि वह नदी नहीं जिसका प्रवाह एक खास जगह पहुँच कर रुक गया हो। कवि के शब्दों में, उसके जल का तो यह हाल है कि:—

उछलता हुआ और उबलता हुआ ।

अकड़ता हुआ और मचलता हुआ ॥

पहाड़ों पे सर को पटकता हुआ ।

चटानों पे दामन झटकता हुआ ॥

ये फूलों के गजरे बहाता हुआ ।

वो चक्कर में बजरे फँसाता हुआ ॥

चमकता हुआ और झलकता हुआ ।

सम्वहलता हुआ और छलकता हुआ ॥

वह निरन्तर अपनी चाल चला ही जा रहा है। तो क्या सृष्टि हुई ही नहीं? अगर सृष्टि से अभिप्राय सृष्टि के उपादान-पदार्थ से ही है तो हमें यह अवश्य ही मानना होगा कि यह सामग्री कहीं-न-कहीं से जरूर आयी। सृष्टि के आरम्भ की तलाश में कोई कितना भी पीछे क्यों न हटे, उसे एक विराम चिह्न के पास रुकना ही पड़ता है। अगर आप उससे पूछें कि “यह कैसे बना” तो वह यही उत्तर देगा कि खुदा जाने, या यह कि मैं नहीं कह सकता। जीव की उत्पत्ति के विषय में भी वही अज्ञानान्धकार है। जीव कहाँ से आया, जीवन की

ज्योति पहले पहल कैसे जगी ? इस प्रश्न का हम कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। वैज्ञानिकों का इस समय यह मत है कि जीव की उत्पत्ति निर्जीव पदार्थ से हुई। यह चाहे जैसे भी हुई हो, आग लगाने के लिए एक चिनगारी काफ़ी थी। जीवन की विशेषताओं में एक विशेषता है कि वह आप-ही-आप अपना विस्तार करता जाता है। उस समय से लेकर आज तक जो कुछ हुआ है वह इसी जीवन-विस्तार का इतिहास है और इस अर्थ में सृष्टि निरन्तर जारी है, जीव से जीव की उत्पत्ति होती ही जा रही है। ध्यान देने की बात यह है कि सृष्टि का क्रम वैसा नहीं रहा है जैसा हमें कुछ किताबों में या दन्तकथाओं में बताया गया है। अगर कोई कहे कि एक रोज़ सब पेड़-पौधे बनाये गये, दूसरे रोज़ सारे पशु-पक्षी और तीसरे रोज़ आदम और हौआ—तो इसे वैज्ञानिक तथ्य नहीं मानना चाहिये। मालूम नहीं संसार-चक्र को पहला झोंका कब और कहाँ से मिला, पर उसके बाद कदम-कदम पर, ऐसे झोंके की जरूरत नहीं पड़ी। वह प्राकृतिक ढंग से ही चलता गया—और आज भी चलता जा रहा है।

संस्कृत के कुछ शब्दों की यह खूबी है कि वे बड़ी ही सारगर्भित धातुओं से बने होते हैं। संसार को ही लीजिये। इसका मूल है “सृ” जिसका अर्थ है “चलना”। संसार का धात्वर्थ है; “चलते रहना”। इसी प्रकार जगत् शब्द “गम्” धातु से बना है और उसका भी वही अर्थ है जो संसार का। वास्तव में ये शब्द हमारे चारों ओर की सृष्टि की परिवर्तनशीलता के द्योतक हैं। जो कुछ है सब चल रहा है—एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँच रहा है—परिवर्तित हो रहा है। दुनिया चली जा रही है और हम आप, हमारे पड़ोसी की बिल्ली और सरकार की दिल्ली ये चीजें भी चली जा रही हैं। दिल्ली जो कल थी आज नहीं है। उस बिल्ली का भी यही हाल है। ये चौबीस घंटे उसके जीवन में भी बहुत कुछ हेरफेर कर चुके हैं, भले ही हम इसे आसानी से न देख सकें। एक तरफ एक चूहे ने उसका हौसला

बढ़ा दिया है। दूसरी तरफ़ एक कुत्ते ने उसके रंग में भंग डाल दिया है। नये अनुभवों ने उसके शरीर पर नहीं तो उसके मन पर नई रेखायें खींच दी हैं, नई छाप डाल दी है, और उस हृद तक वह कुछ-से-कुछ हो गई है।

पर हम उतने गहरे पानी में न जाकर संक्षेप में यह बताना चाहते हैं कि संसार-चक्र को पहला झोका मिल जाने के बाद सृष्टि का क्या क्रम रहा। हमारा मुख्य विषय तो पक्षी-जीवन है, पर पूर्वापर सम्बन्ध बताये बिना यह विषय हमारे दिमाग में अपना घर ठीक न कर सकेगा। पर उस क्रम का पूरा इतिहास बताना भी विज्ञान के लिए अभी सम्भव नहीं।

सौर जगत् के नाम से पाठक परिचित होंगे। यह उस परिवार का नाम है जिसके सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति सूर्य है। इसके ग्रह जो, किसी समय उन्हीं से निकले थे, दिन-रात उनकी परिक्रमा किया करते हैं और इन्हीं में हमारी यह पृथ्वी है। ब्रह्माण्ड में न जाने कितने सौर जगत् हैं, पर अगर सब से ध्यान समेटकर हम उसे अपने सौर जगत् पर ही केन्द्रीभूत करते हैं तो भी दिमाग चक्कर खाये बिना नहीं रहता। एक ज़माना ऐसा बीत चुका है जब इस पृथ्वी की तो बात ही क्या सूर्य का भी अस्तित्व न था। इस सौर जगत् की जगह कुहरा जैसा पदार्थ फैला हुआ था और उसका एक-एक कण लट्टू की तरह नाचता रहता था। इसी कुहरे का केन्द्रस्थ भाग सूर्य बन गया और जैसे गुंधे हुए आटे के पिण्ड से लोइयां निकलती हैं, वैसे ही उससे पृथ्वी, मंगल, शुक्र, शनि जैसे ग्रह निकलते गये। करोड़ों बरसों तक हमारी यह पृथ्वी इतनी तप्त थी, इसके चारों ओर का वायुमंडल इतना दूषित था कि उस पर जीवन का संचार होना ही असम्भव था। फिर एक दिन ऐसा आया जब इसमें काफी ठंडक हो चली, वायुमंडल के दोष बहुत कुछ दूर हो गये, सूर्य का प्रकाश उसकी सतह तक बखूबी पहुँचने लगा। बादलों की भाप सर्द चट्टानों के संसर्ग से पानी-पानी होने लगी और

जहाँ पहले सिर्फ आग लहराया करती थी वहाँ बड़े-बड़े समुद्र लहराने लगे। ऐसी अनुकूल परिस्थिति में न जाने कैसे और कहाँ से प्राण का संचार हुआ और सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणु के रूप में सर्वप्रथम प्राणी ने सृष्टि के इतिहास के सब से महत्वपूर्ण अध्याय का श्रीगणेश किया।

जीवन के आविर्भाव के करोड़ों बरस बाद तक कोई भी जीव-जन्तु रीढ़दार न हो सका। कारण यह कि रीढ़ की जरूरत तब पड़ती है जब प्राणी एक हृद तक तरक्की कर लेता है। आज संसार में रीढ़दार जीवजन्तुओं की जाति-संख्या २५,००० है, पर बेरीढ़दारों की जाति-संख्या २,५०,००० ! अब उस कीटाणु को लीजिये जो पहले पहल जीवन के रंगमंच पर आया। उस अजीबो-गरीब प्राणी के न हाथ थे न पाँव, न नाक थी, न कान। जो कुछ शरीर था एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म नली के समान था। इसकी जातियों की संख्या आज भी कई हजार है और ये दूर-दूर तक फैली हुई है। इनमें कुछ रक्षक है तो कुछ भक्षक। इसके बाद आते हैं वे प्राणी जिनकी शरीर रचना में एकाधिक नलियाँ पाई जाती हैं। इनमें समुद्र में पाये जाने वाले “स्पंज” से लेकर मनुष्य तक शामिल हैं। कीड़े-मकोड़े-सीप-शंख-घोघे तक पहुँचने में न जाने कितने युग लग जाते हैं। पर सिलसिला टूटता नहीं। अब रीढ़दार प्राणियों का प्रवेश होता है। इनके खास वर्ग हैं:—(१) जलचर जैसे मछली, (२) जल स्थल-चर जैसे मेंढक, (३) सरी-सूप जैसे साँप, (४) पक्षी और (५) स्तनपायी—जैसे चमगादड़, बिल्ली, बन्दर और मनुष्य। पक्षियों का वर्ग ‘नभचर’ नहीं कहा गया है क्योंकि चमगादड़ भी आसमान में चक्कर लगा सकता है और चमगादड़ को चिड़िया समझना भारी भ्रम है। पक्षियों के बाद स्तनपायी पशुओं का नम्बर इसलिए आता है कि इनका स्थान उनसे भी ऊँचा है। हम छोटे से बड़े की ओर जा रहे हैं और यद्यपि हम स्वीकार करते हैं कि पक्षी काफी बड़े-चढ़े हैं, फिर भी उनका दिमाग वैसा नहीं जैसा अधिकांश स्तनपायी पशुओं का। दन्त-कथाओं की बात छोड़ दें तो भी पक्षी मनुष्य

के वर्ग से, बहुत पीछे रह जाते हैं। यह जरूर है कि जहाँ उस वर्ग में कोई जैसा काइयाँ है, वहाँ इस वर्ग में गधे जैसा बेवकूफ है। परन्तु एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक के मतानुसार इसे बेवकूफ बताना अक्षम्य अपराध है। सो गधा भी इतना बुरा नहीं, जितना कुछ लोगों ने समझ रक्खा है ! पर पशु प्राणियों का वर्गीकरण कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार होता है और पक्षी समाज हमें क्षमा करे अगर हम उसे साँप से ऊँचा आसन देते हुए भी छछूंदर की बराबरी में नहीं बिठा सकते। एक बात का ध्यान रहे। स्तनपायी और पक्षी दोनों ही सरीसृपों से निकले हैं, पर विकास-भेद के कारण पक्षी तो अंडज ही रहे और स्तनपायी (दो तीन अपवादों को छोड़कर) कोख से जन्म लेने देने-वाले बन गये। समय के लिहाज से पक्षी स्तनपायियों के परवर्ती है।

प्रकृति-निरीक्षण करते समय दो बातें हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रहती। एक तो यह कि समान से समान पैदा होता है। बबूल के बीज से बबूल की ही पैदाइश होगी। “रोपे पेड़ बबूर को आम कहाँ ते होय” ! पर साथ ही दूसरी बात यह भी बड़े मार्क की है कि प्राकृतिक जगत् में कोई भी दो चीजें बिल्कुल समान नहीं होतीं। बबूल से बबूल तो निकला, पर दोनों पेड़ दो रास्ते गये। जहाँ एक का घड़ मोटा है वहाँ दूसरे का पतला; जहाँ एक सीधा है वहाँ दूसरा बाँका तिरछा; जहाँ एक में डाल है वहाँ दूसरे में कल्ला। इस विभिन्नता के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने बड़ी छान-बीन की है और इस पर बड़े-बड़े षोथे लिखे जा चुके हैं। मोटी बात यह है कि पदार्थ के कणों में विभिन्नता सम्बन्धी गुण न होना तो आज हम इस भू-मंडल को जैसा पाते हैं वैसा न पाते। कम-से-कम जीवों की इतनी जातियाँ न होतीं। इस विभिन्नता की जड़ में खास बात है अब रिवाज का बदल जाना। हमारे बाप-दादे गांवों में खेती करते थे, हम शहरों में क्लर्की करते हैं। हमारी परिस्थिति बदल गयी, हमारा पेशा बदल गया, साथ ही हम भी बदल गये। कुछ बातों में हम उनसे आगे हैं तो कुछ बातों में

पीछे। हमारा मस्तिष्क सम्भवतः उनके मस्तिष्क से अधिक बोझा उठाने सकता है, पर हमारी शारीरिक अवस्था उनसे दीन-हीन है। न तो हमारे रक्त में वह लालिमा है, न हमारी भुजाओं में वह बल।

हैं कभी गर्दन में, 'कालर' की ज़रूरत इससे है।

गाल हैं पिचके, गिलोरी इसलिये गालों में हैं ॥

कहा जा सकता है कि हम नगर-निवासी बाबुओं की एक नई जाति ही तैयार हो गई है। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये। नई अवस्थाएँ नई समस्याएँ खड़ी कर देती हैं और नई समस्याओं पर विजय पाकर या उनकी चपेट में आकर नई जातियाँ बन जाती हैं। कोई भी चीज ऐसी नहीं है जो यह दावा कर सके कि मैं जैसी हूँ हूबहू वैसी ही सिरजनहार के हाथों सिरजी गई थी और न कोई चीज यही कह सकती है कि मैं जैसी हूँ वैसी ही बराबर बनी रहूंगी।

जीव-जन्तुओं की नई जातियों के निर्माण की कहानी बड़ी ही मनोरंजक होती है; पर पूरी कहानी हमें कौन सुना सकता है! पचास करोड़ बरस से भी कहीं अधिक काल से इस धरातल पर जीव-जन्तु अपना नाटक खेलते आ रहे हैं।

इतनी पुरानी कहानी सुनानेवाला भी हो तो सुनने के लिए हमें कितनी लम्बी आयु चाहिये। पर पूरी नहीं तो अधूरी ही सही। उससे भी हमारा कम मनोरंजन न होगा, हमें कम शिक्षा न मिलेगी। वैज्ञानिकों ने इधर सौ बरसों में इतना मसाला इकट्ठा कर लिया है कि बीती बातों की झलक दिखायी देने लगी है। हम अनुमान, उपाख्याव और अन्धविश्वास के दलदल से निकलकर संशोधित इतिहास की ठोस जमीन पर पहुँच गये हैं। यह इतिहास हमें बताता है कि प्राणियों का विस्तार आकस्मिक घटनाओं की शृंखला के रूप में, नहीं हुआ है। एक जाति से ही दूसरी जाति निकलती है। उन्नति इस तरह नहीं हुई है कि जहाँ समतल भूमि थी वहाँ रात बीतते-बीतते पहाड़ खड़ा हो गया, बल्कि इस तरह कि जहाँ एक इंच ऊँची ज़मीन थी वहाँ

दूसरे दिन दो इंच हो चली और तीसरे दिन तीन इंच। इस प्रकार उँचाई क्रमशः बढ़ती गयी और जहाँ किसी समय केवल कीटाणुओं का अस्तित्व था वहाँ ऊँट और हाथी जैसे जन्तु भी नजर आने लगे। उदाहरण के लिए घोड़े को लीजिये। इसका वंशवृक्ष उन अस्थि-पंजरों की सहायता से तैयार किया गया है जो भिन्न-भिन्न देशों के भूगर्भ से निकाले गये हैं और एक दूसरे से लाखों बरसों का अन्तर रखनेवाले हैं। उससे पता चलता है कि घोड़े का वह पूर्वज, जो लम्बे सफर के बाद इस जगह पहुँचा था, उँचाई में ग्यारह इंच से भी कम था। उसके और आजकल के घोड़े के बीच में की सभी कड़ियाँ तो अभी नहीं मिली हैं; पर जो मिली है उनसे यह स्पष्ट है कि यह जानवर एक छलाँग में ही यहाँ न पहुँच कर कई मंजिलों को तय करने के बाद पहुँचा है। प्रत्येक आदमी को अपने देश-काल के अनुसार चलना पड़ता है। अगर वह ऐसा नहीं करता तो वह या तो दौड़ में पिछड़ जाता है या मर मिटता है।

घोड़े के पूर्वजों की आकृति-प्रकृति भी देश-कालानुसार बदलती गई। जब भूमि घास से हरी-भरी थी, तब उससे एक खास तरह के घोड़े का गुजर होता था। जब पृथ्वी की प्राकृतिक अवस्था बदल जाने के कारण दूर्वादल दुर्लभ हो चला या सूखी घास के चने चबाने की जरूरत पड़ी, तब उस घोड़े को रंगमंच से हट जाना पड़ा और उसका स्थान दूसरे ने ले लिया। इसी प्रकार जब जीव और जगत् के घात-प्रति-घात से नई जातियों की सृष्टि होती गई, नये घोड़े बनते गये। लाल बुभुक्कड़ जी यहाँ यह बोल उठेंगे : “मैं समझ गया, आपकी यह सारी भूमिका आदमी को बन्दर की औलाद बताने के लिए है।” वह हजरत अकबर इलाहाबादी का यह शेर भी दोहराये बिना न रहेंगे कि:—

डारविन साहब हकीकत से निहायत दूर थे।

मैं न मानूँगा कि मूरिस आपके लंगूर थे ॥

वास्तव में सन्तान शब्द ने सत्य की स्वीकृति के मार्ग में बाधा

डाल दी है। उन्हें यह मानने में आपत्ति नहीं कि वे मिट्टी से निकले हुए हैं। वे शायद यह भी मान लेंगे कि मिट्टी के कण उनके पूर्वज हैं, पर पशु-सन्तान ! बन्दर की ओलाद !! वैज्ञानिको, तुम्हारे सिर पर ढेला पड़ने ही वाला है।

सभी जानते हैं कि अरब-खरब की उत्पत्ति इकाई से ही होती है, फिर भी अगर वे सजीव होते तो सम्भवतः उन्हें अपने को इकाई की ओलाद कहते बड़ा संकोच होता। लाख-करोड़ तक तो कोई बात न होती, पर उससे नीचे उतरना अरब-खरब कभी पसन्द नहीं करते। और इकाई की याद दिलानेवाले की तो जो दुर्दशा होती वह हम सहज ही में अनुमान कर सकते हैं। मनुष्य का भी यही हाल है। चूँकि वह आज करोड़ीमल हो रहा है, वह ऐसे जीवों को अपने पूर्वज बताना नहीं चाहता जिनकी पूजा अणु या परमाणु के बराबर थी। फिर भी इतिहास उसकी प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए दूसरी तरह नहीं लिखा जा सकता। उसका करोड़ भी इकाई से ही बना है, उसका जन्म भी उसी वंश में हुआ है जिसका आदिपुरुष कोई कीटाणु था।

विकासवाद आखिर कहता क्या है ? यही तो कि जिस पृथ्वी की हम अपने को सन्तान बताते हैं, उससे हम सम्बद्ध जरूर हैं, पर उसके और हमारे बीच कितनी ही कड़ियाँ हैं। शारीरिक रचना और बौद्धिक विकास की दृष्टि से हम और प्राणियों से बहुत ऊँचे हैं। मान लीजिये हम किसी अट्टालिका की छत पर हैं और हमारे और जमीन के बीच एक जीना है। हम एक-एक सीढ़ी पार करके ही इस जगह पहुँचे हैं। जब हमने पहिली सीढ़ी पार की थी, तब हमारा स्वरूप और ही था। न तो यह डील-डौल ही था और न यह दिलो-दिमाग। हममें से कुछ तो उसी रूप में जहाँ-कहाँ रह गये—आज भी जो चाहे हमारे उस पुराने रूप को अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से उस पहिली सीढ़ी पर देख सकता है, और कुछ हिम्मत करके आगे बढ़े। दूसरी सीढ़ी पर पहुँचते-पहुँच उनकी कायापलट हो गई। इसी प्रकार पीढ़ी-दर-

पीढ़ी हम ऊपर चढ़ते गये, और कुछ-से-कुछ बनते गये। जहाँ हमने दौड़ की वहाँ-वहाँ हमारा शारीरिक रूप एक तरह का हुआ, जहाँ हमने तैरने का अभ्यास किया वहाँ दूसरी तरह का। हम वही हैं जो सृष्टि के आदि में थे, पर हम चोला बदलते और नया तन धारण करते आये हैं। इसलिए आप हमें कही मीन के रूप में पाते हैं तो कही मनुष्य के। ईश्वर के हिन्दू धर्मानुसार जो दश अवतार हुए हैं, उनके क्रम से भी यही सूचित होता है कि मछली और कछुए के वंश में ही छोटे और बड़े आदमी पैदा हुए हैं। बन्दर ही क्यों उनसे पहले होने-वाले जीव-जन्तु भी हमारे पूर्वजों में हैं—और मिट्टी के पुतले के लिए इसमें लज्जाजनक बात है ही क्या ?

हाँ, तो पक्षियों के पूर्वज कौन थे ? बात बड़ी बिचित्र-सी जान पड़ती है। पर बरसों की समीक्षा-परीक्षा के बाद वैज्ञानिक इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि इनके पूर्वज किसी समय गिरगिट, मगरमच्छ जैसे सरीसृप या रेंगनेवाले जन्तु थे। यों तो इन सरीसृपों के पहले के प्राणी भी उनके पूर्वज कहे जा सकते हैं, पर सब से नजदीकी होने के कारण इन्हीं से रिश्ता जोड़ा गया है। जो सरीसृप आजकल सरकते चलते हैं, उनका पक्षियों से क्या सम्बन्ध है, यह ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता। पर इनके बीच का फासला चाहे जो हो, यह निर्विवाद-सा है कि दोनों एक ही कुल के हैं।

ऐसे विषय का विवेचन करते समय पहले पहल यह देखना होता है कि शारीरिक विशेषताओं में कहाँ तक सादृश्य है। जिनका मूल एक होता है वे सारी विभिन्नताओं के होते हुए भी कितनी ही बातों में समान बने रहते हैं। यह समानता प्रायः वैज्ञानिक दृष्टि से देखने से ही मिल सकती है। मनुष्य के हाथ, चिड़ियों के डंते, घोड़े के अगले पैर ये यों देखने में कितने विभिन्न हैं। पर जब इनकी हड्डियों और मांसपेशियों की, रक्त और नसों की परीक्षा की जाती है तब ज्ञात होता है कि इनमें बड़ी आश्चर्यजनक समानता या एकता है।

कभी-कभी प्राणियों में ऐसे अवयव या उनके अवशेष पाये जाते हैं जिनका कोई भी उपयोग देखने में नहीं आता। अकेले मनुष्य में ऐसे अवशिष्ट अश, जो दिन-दिन घिसते जा रहे हैं, और सम्भव है जिनका किसी अगली पीढ़ी में नाम निशान भी न रहे—पचास से भी अधिक हैं। कान के पास कुछ ऐसी मांसपेशियाँ होती हैं जो इस समय बिल्कुल बेकार हैं, यद्यपि सम्भव है आपको कोई आदमी ऐसा मिल जाय जो उनकी सहायता से कान हिला सकता है। पत्रों में आजकल 'अपेन्डे-साइटिस' रोग की अक्सर चर्चा रहती है। यह रोग बड़ी आँत के एक खास हिस्से में होता है जो अब किसी काम का न रहा। ह्वेल मछली के पिछले पैर नहीं होते—पर अगर चीर फाड़ की जाय तो हड्डियों और मांसपेशियों के रूप में उसके अवशेष आज भी उसके शरीर में अन्तरस्थ मिलेये। परीक्षा का दूसरा विषय है गर्भाधान। एक मूल से निकली हुई जातियों के बच्चे गर्भ में कुछ दूर तक मानो एक ही राह जाते हैं। मछली जाति के प्राणियों के मुँह में साँस के साथ आये हुए पानी को बाहर करने के लिये, कुछ खास सूराख होते हैं। पक्षी को या किसी स्तनपायी पशु को ऐसे सूराख की कोई जरूरत नहीं—फिर भी गर्भावस्था में उनके और सरीसृपों के बच्चों में भी यह शारीरिक विशेषता पाई जाती है। हमारी उत्पत्ति सम्बन्धी एकता पर विभिन्नता का बोझ जरूर लद गया है। पर जहाँ तक उसकी शक्ति है, वह सिर उठाये बिना नहीं रहती, या यो कहिये कि पशु-प्राणियों को विकास सम्बन्धी पूरी स्वतंत्रता प्राप्त होते हुए भी, उन्हें कुछ अश में, बीती बातों की पुनरावृत्ति करनी ही पड़ती है। पारस्परिक सम्बन्ध की जाँच करते समय यह भी देखने की बात है कि आखिर चश्मदीद गवाह क्या कहते हैं। पृथ्वी सब कुछ देखती आई है और अगर वह बोलती होती तो इस झगड़े का फैसला बात की बात में हो जाता। पर अगर वह गूंगी होती हुई भी और किसी ढंग से अपनी शहादत दे सके तो हमें उस पर जरूर ध्यान देना होगा। यहाँ हमें भूगर्भ-शास्त्र की शरण

लेनी पड़ती है—और साथ ही उस शास्त्र की जो भूगर्भ में दबे हुए अस्थिपंजरों की असलियत बताता है। हम ज्यों-ज्यों नीचे जाते हैं, त्यों-त्यों हमें जमीन की नई तहें या परतों में घरोहर के तौर पर रखे हुए तरह-तरह के हड्डियों के ढाँचे भी हाथ लगते हैं। कौन ढाँचा किस काल का है और कौन क्या साबित करता है, यह बताना विशेषज्ञों का काम है। सभी पशु-प्राणी अपने कंकाल नहीं छोड़ गये हैं, क्योंकि बहुतों का कंकाल तो था ही नहीं। पर घोड़े, हाथी, ऊँट, मगरमच्छ ऐसे जीवों के कंकाल तो इतनी संख्या में और इतने भिन्न-भिन्न रूपों में मिले हैं कि उनको एक साथ रखने से ही उनके विकास का क्रम बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है।

अब आइये, देखें कि पक्षियों की उत्पत्ति पर इस प्रकार की परीक्षा से क्या प्रकाश पड़ता है।

(१) अगर हम किसी पक्षी के शरीर का मगरमच्छ से मिलान करे तो दोनों में बहुत कुछ सादृश्य पायेंगे। प्रत्येक निचले जबड़े में बारह हड्डियाँ मिलेंगी, और यह जबड़ा पास की हड्डी से एक ही तरह जुड़ा हुआ होगा। अगर जीवित सरीसृपों की जगह हम उन सरीसृपों से तुलना करें, जिनके इस समय सिर्फ कंकाल बच रहे हैं, तो सादृश्य की सीमा और भी बढ़ जायगी। एंडी से चोटी तक एक नहीं अनेक अंग-प्रत्यंग सादृश्य सूचित करनेवाले मिलते हैं। पैर, पाकयंत्र, रक्तसंचालन और निश्वास-प्रश्वास से सम्बन्ध रखनेवाले अवयव, जन-नेन्द्रियाँ, मस्तिष्क, रक्त के कीटाणु, सब से इस समानता की पुष्टि होती है।

(२) पक्षी और सरीसृप दोनों ही अंडज हैं, पर इनके अंडे भी कितनी ही बातों में समान होते हैं। राजहंस (Swan) और मगरमच्छ के अंडे एक जगह हों तो यह पहचान करना मुश्किल है कि कौन किसका है। बाहर भीतर प्रायः दोनों एक-से ही होंगे और आरम्भ में कुछ दिनों तक दोनों का विकास एक ही ढंग से होगा।

(३) सबसे प्राचीन पक्षी जिसका हमें पता है 'Archaeopteryx' है। इसके दो ही अस्थिपंजर आज तक प्राप्त हुए हैं और दोनों जर्मनी के एक ही स्थान से। इनमें से एक तो लन्दन के मशहूर अजायबघर में सुरक्षित है और दूसरा बर्लिन के। दोनों ही ससार की बहुमूल्य वस्तुओं में हैं। ये अस्थिपंजर जिस जगह दबे हुए मिले थे, उसकी यह खूबी समझिये कि उसने इन्हें इतने काल तक सुरक्षित रखा और इनके पंरों की ऐसी छाप अपने ऊपर लेली कि उनके सड़ गल जाने पर भी उनकी प्राकृतिक अवस्था आज आसानी से बतायी जा सकती है। यह पक्षी था इसमें कोई सदेह नहीं। बात इतनी जरूर है कि इसे सरीसृप वाला पुराना चोला बदले बहुत दिन (भूगर्भ के इतिहास में लाखों बरसों का एक दिन होता है) नहीं हुए थे। इसके पंरों से मिली जुली हुई तीन अगुलियाँ हैं, जिनमें नाखून भी हैं। जबड़ों में दाँत भी मौजूद हैं। यह बात कुछ बाद के अस्थिपंजरों में भी पाई जाती है, पर आजकल के किसी पक्षी में नहीं। फिर इसके लम्बी हड्डीदार दुम है, जो दोनों ओर पंरों से ढकी हुई है। आजकल किसी भी पक्षी के लम्बी दुम होती भी है तो वह सिर्फ ऐसे पंरों की होती है जो छोटी सी हड्डी के सिरे से आगे निकले हुए होते हैं। यह पक्षी डील-डौल में कौए की बराबरी का था। प्रारम्भ काल के पक्षी इससे बहुत छोटे थे। इसके बाद के तो कितने ही पक्षियों के अस्थिपंजर मिले हैं। इनमें कई ऐसी जातियाँ थी जो मर मिटी—उनका कोई भी वंशज न रहा। इतने युगों की पुरानी बात को $2 \times 2 = 4$ की तरह प्रमाणित कर देना संभव नहीं। पर ज्यों-ज्यों नीचे जाइये, जमीन का बयान भी यही मिलता है कि गिरगिट और गोरैया एक ही वंशवृक्ष की दो शाखायें हैं।

पृथ्वी के इतिहास में एक जमाना ऐसा गुजर चुका है जब सरी-सृप, रेंगने की कौन कहे, दौड़ते थे, तैरते थे, और कोई-कोई उड़ते भी थे। इन उड़नेवालों में एक का नाम 'Petrodactyl' है। पर नभचर होने पर भी यह पक्षी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसकी

शरीर-रचना बहुत भिन्न थी। सरीसृपों की जिस जाति से पक्षियों की उत्पत्ति हुई, उसे वैज्ञानिक “ Psendosuchians ” कहते हैं। ये दोनों पिछले पैर के बल चलने लगे थे, या चलने लायक हो गये थे। सरी-सृप की कायापलट के सम्बन्ध में एक वैज्ञानिक लिखता है:—

“मान लीजिये इस जाति के सरीसृपों को ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा, जिसमें प्राण-रक्षा के लिये तेजी से चलना या भागना आवश्यक था। पिछले दोनों पैरों के सहारे ये दोनों पहले से ही खड़े होने लगे थे—अब अगले दोनों पैरों को काम में लाकर ये उछलने-कूदने लगे। भागे जा रहे हैं, और जब देखा कि जमीन पर जान बचना मुश्किल होगा, तब उछल कर पेड़ की डाल पर पहुँच गये। हाथों ने धीरे-धीरे पैरों का काम ले लिया, और अपना बहुत कुछ काम पैरों को सौंप दिया। पैर पेड़ की डाल को मजबूती से पकड़ने में दक्ष होने लगे। उधर चमड़े की झुर्रियाँ परो में परिणत होकर फहराने लगी। बालों की ऐसी रजाई मिल जाने से शारीरिक ताप का अपव्यय रुक गया और अग-प्रत्यंग में एक तेजी आ गयी। “जिन्दगी जिन्दादिली का नाम है”, यह अब इनका मूलमंत्र हो चला है और पुराना कलेवर बदलकर ये नये प्राणी हवा से बातें करने लगे हैं।”

इस विषय पर मतभेद है कि सरीसृप दौड़ना सीखने के बाद “शाखा-मृग” बने या बिना सीखे ही। इतना जरूर है कि उड़ना उन्होंने पेड़ों पर ही पहुँचकर सीखा। फिर तो जिसे जैसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा, उन्होंने अपने आपको उसी के अनुकूल बना लिया। कोई आसमान में चक्कर लगा रहा है तो कोई पहाड़ में घूनी रमा बैठा है। कोई कछार में मलार गा रहा है तो कोई समुद्र की लहरों के साथ नाच रहा है। जैसा देश वैसा भेस। जो अपना भेस न बदल सका वह या तो निश्शेष हो गया या दौड़ में पिछड़ गया। पर जहाँ किसी बात के आविर्भाव से किसी प्रकार की क्षमता बढ़ती है वहाँ उसके अभाव से वह घटती भी जाती है। आवश्यकता ने “आविष्कार की

जननी'' बनकर इन्हें उड़ना सिखाया था। पर जहाँ निरापद स्थान मिलने से या और किसी कारणवश उड़ने की वैसी आवश्यकता न रही, वहाँ वह क्षमता कम हो चली। प्राकृतिक जगत में जहाँ चौबे से छब्बे बनना सम्भव है वहाँ दुबे हो जाना भी असम्भव नहीं।*

* यह 'पक्षी-परिचय' के द्वितीय संस्करण की भूमिका है।

तुकबन्दी

बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने उर्दू को सम्बोधन कर कहा है.—

जना था तुम्हें माँ ने बाज़ार में ।

पली शाह आलम के दरबार में ॥

कुछ लोगों का कहना है कि तुकबन्दी ने फ़ारस में जन्म लिया था और फ़ारसी की गोद में पली थी । सम्भव है मतभेद भी हो । वाल्मीकि मुनि के जिस श्लोक से संस्कृत कविता का जन्म माना जाता है उसमें तन्त्री, लय इत्यादि तो थे पर तुकबन्दी न थी । फिर भी हम यह कहने का साहस नहीं कर सकते कि संस्कृत में यह चीज़ बाहर से आयी । अक्सर यह जानने की इच्छा होती है कि इसकी माँ सचमुच कौन थी । उसने इसे कहाँ जना था ? बाज़ार में या दरबार में ? भारतवर्ष का इतिहास लिखनेवालों को यह प्रश्न नोट कर लेना चाहिए । 'भारतवर्ष में तुकबन्दी' लिखकर यूरोप या अमेरिका में कोई बड़ी डिग्री ज़रूर हासिल की जा सकती है ।

संसार में बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं जो आरम्भ में छोटी—नगण्य—होते हुए भी पीछे विशाल रूप धारण कर लेती हैं । तुकबन्दी का जन्म हँसी-मजाक से हुआ होगा । शुरू में वह नन्ही-सी चीज़ रही होगी—बरसों तक उसकी उपेक्षा हुई होगी । आज वह कविता की बड़ी नही, आभूषण समझी जाती है । इसी को अहिंसात्मक क्रान्ति कहते हैं ।

पाठकों को इतना ज़रूर मालूम होगा कि ब्रिटिश साम्राज्य भी किसी समय ऐसा ही छोटा पदार्थ था । जिनके हाथ में आज बड़ी से बड़ी तोप या मशीनगन हैं वे पहले पहल तराजू और बटखरे लिये यहाँ आये थे । मि० चर्चिल के पूर्वजों ने किन उपायों से भारतवर्ष में अपना राज्य या साम्राज्य कायम किया, इसका इतिहास श्री सुन्दरलाल जी ने लिखा था,

पर सरकार की इच्छा हुई कि कोई उस पुस्तक को न पढ़े। तुकबन्दी के सिलसिले में हमने ब्रिटिश साम्राज्य का नाम यह बताने के लिए लिया है कि क्रान्ति अहिंसात्मक होने के साथ हिंसात्मक भी हो सकती है। दोनों की अवस्था आरम्भ में बड़ी दीन-हीन थी, और आज दोनों की, दो विभिन्न क्षेत्रों में, तूती बोल रही है। पर तुकबन्दी के इतिहास में खून-खराबी का नाम नहीं। ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए हिंसा बराबर आवश्यक समझी गयी है, पर तुकबन्दी ने अभी तक केवल अहिंसा से ही काम लिया है।

अगर ब्रिटिश शासन-पद्धति ने तुकबन्दी की तरह, लोकरजन को अपना मूलमंत्र बनाया होता तो भारतवर्ष का इतिहास दूसरी तरह लिखा जाता। इसका यह अर्थ नहीं कि उस हालत में महात्मा गांधी न होते। विरोधी क्या तुकबन्दी के नहीं हैं? 'निराला' जी से पूछिए। विदेशी शासन होने के कारण महात्मा गांधी तो जरूर होते, पर हाँ, सच्चे दिल से सरकार का साथ देनेवालों का नितान्त अभाव न होता।

इस शासन-पद्धति की तरह, तुकबन्दी भी स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक है। अगर पहली पंक्ति के अन्त में दिल्ली है—यह लेख दिल्ली में ही लिखा जा रहा है—तो तुक मिलाने के लिये दूसरी पंक्ति में बिल्ली या कम-से-कम भिल्ली होना जरूरी है। अब देखिये, इससे कितनी कठिनाई होती है। कवि की कल्पना तो दिल्ली के इतिहास रूपी आकाश में उड़ रही थी। ऐसे मौके पर तुकबन्दी का तकाजा हुआ कि महाभारत और गीता; धानेश्वर की लड़ाई और पृथ्वीराज चौहान; सन् सत्तावन का गदर और बहादुर शाह; नयी दिल्ली और प्रेसिडेंट पटेल—से ध्यान समेट कर बिल्ली या भिल्ली की आराधना करो। कैसा अधःपात है, उज्जाजनक परिस्थिति है। प्रतिभा-पद्मिनी को तुकबन्दी-सी नीच कुल की स्त्री के पैर का अगूठा चूमने के लिए लाचार होना पड़ा। खयाल कीजिये, कहाँ दिल्ली—कहाँ बिल्ली!

फिर भी जो लोग तुकबन्दी की मर्यादा का पालन करते हुए (या

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उसकी कदमबोसी करते हुए) अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय देते हैं उनके प्रति मेरे हृदय में आदर और भक्ति है। कुछ हिन्दी-प्रेमी चरम पन्थी हैं। वे न तो किसी कवि-सम्मेलन में जाते हैं, न किसी समस्या पूर्ति के लिये किसी को दाद देते हैं। मासिक पत्रिकाओं में इनकी जो रचनाएँ प्रकाशित होती हैं उनमें, और सब गुण होते हुए भी तुकबन्दी नहीं पायी जाती। मैं आज ही कहीं पढ़ रहा था.—

“क्यों कोई परतन्त्र

रहे विश्व में ? भारत हो या भारती ?

स्वतन्त्रता है लक्ष्य हमारा ; हो यत्न सफल”—

जिन कवियों ने तुकबन्दी की है उनकी मैं कई कारणों से प्रशंसा करता हूँ। सबसे पहले तो यह देखिये कि इस कूचे में—तंग गली में—जो कोई पैर रखता है उसे बहुत कुछ आत्मसमय करना पड़ता है। उसके सामने शब्दों का कोष खुला पड़ा है, पर वह तो उस फकीर की तरह है जो मुट्ठी भर अन्न से ही सन्तोष मान लेता है, उसे लाख करोड़ से क्या मतलब ? उसके मानसिक नेत्रों के सामने बड़े-बड़े शब्द गुजरते हैं पर वह उनकी उपेक्षा करता जाता है, क्योंकि वे उसके लिए कुछ भी काम के नहीं।

कल होली है, किसी पत्र के विशेषांक के लिए मुझे कविता के रूप में कुछ लिख भेजना है। पहली पंक्ति के अन्त में वह स्वयं आ बैठी है। इसलिए मैं तुकबन्दी के लिए कोई उपयुक्त शब्द ढूँढ़ रहा हूँ। राजा महाराजा आते हैं, काशी के महामहोपाध्याय मिलते हैं—फिर भी मैं उनकी ओर ध्यान नहीं देता। मुझे न तो उनकी व्यवस्था चाहिये, न उनकी धैली। हाँ होली से तुक मिलाने के लिये मुझे जरूरत है तो फकीर की भोली की। मैं अलवर या बीकानेर न जाकर साबरमती जाऊँगा।

चहों न सुगति, सुमति, संपति कुछ

रिधि-सिधि विपुल बढ़ाई।

हेतुरहित अनुराग राम पद

वड़े अनुदिन अधिकाई !

इसी प्रकार मुझे भी आज कारूँ का खजाना नहीं, किसी फकीर की—महात्मा गांधी की—भोली चाहिए। मुझे होली से तुक मिलाना है।

तुकबन्दी में आत्मसयम है, साम्यवाद है, समदर्शिता है। साथ ही सौन्दर्य की उपासना है। कुछ लोगों की धारणा है कि अगर भाव अच्छा हो तो भाषा की विशेष चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। पर इस साकार ससार मे रग-रूप भी कोई चीज है। “सत्यं, शिवं, सुन्दरं” की घोषणा सबसे पहले इसी देश में हुई थी। सत्काव्य में सच्चाई और भलाई तो होनी ही चाहिए, साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह सौन्दर्य से सर्वथा हीन न हो। तुकबन्दी के रूप में जो कविता प्रकाशित होती है वह अपनी सुन्दरता अर्थात् श्रुतिमधुरता के कारण ही आपका और मेरा मन हर लेती है। निरी तुकबन्दी—जिसमें भाव का अभाव है—किसी काम की नहीं; पर अगर वह वास्तव में कविता है, अगर भाव और भाषा का सहयोग है तो समझ लीजिए कि सोने में सुगन्ध है।

प्रकृत कवि की मानसिक अवस्था का वर्णन करते हुए मोलाना आजाद ने लिखा है:—

डूबा हुआ है सर को गरेबाँ में डाल के,
उड़ता मगर है खोले हुए पर खयाल के—
जिस तरह बाज लाये कबूतर को मार कर
यों लाता आसमां से है मजमूँ उतार कर !

वास्तव में ये पंक्तियाँ विशेषतः उस कवि के सम्बन्ध में चरितार्थ होती हैं जो तुकबन्दी के उधेड़-बुन में रहता है। बहुत दिनों से मेरा खयाल था कि दिल्ली और बिल्ली का तुक मिलने पर भी इन दोनों में इतना फर्क है कि इनकी सहायता से कोई अच्छी कविता नहीं की जा सकती। पर उस दिन कलकत्ते से यहां आते समय पण्डित अम्बिका प्रसाद जी

वाजपेयी ने यह खयाल दूर कर दिया । वाजपेयी जी को संसार का अद्भुत अनुभव है । अक्सर बातचीत में वह बड़े-से-बड़े बातूनी को भी दो-चार शब्दों में ही चुप कर देते हैं । मैं कुछ अभिमान से कह रहा था कि आज पंजाब मेल से दिल्ली जा रहा हूँ; इस बार बड़े-बड़े नेताओं के दर्शन होंगे । वाजपेयीजी ने रिमार्क किया—

जरदार मर्द नाहर
घर रहे चाहे बाहर
बेजर का मर्द बिल्ली
घर रहे चाहे दिल्ली !

मैं अवाक्-सा हो गया ! बिना धन के मनुष्य सचमुच बिल्ली है, उसमें कितना ही साहस क्यों न हो वह शेर की—धनवान् की—बराबरी नहीं कर सकता । देखिये, तुकबन्दी करनेवाले ने कैसा कमाल कर दिखाया है—

जिस तरह बाज्र लाये कबूतर को मार कर
यों लाया आसमां से है मज्जमूं उतार कर ।

('प्रेमा' से)

अखबारी दुनिया

भारतवर्ष में शिक्षितों की संख्या बहुत कम होने के कारण यहाँ के समाचारपत्र लाख प्रयत्न करके भी कोई बड़ी ग्राहक-संख्या नहीं दिखा सकते । यों तो इसके कारण और भी कितने ही हैं पर उनके प्रचार के मार्ग में सबसे जबर्दस्त बाधक इस देश की शिक्षा-सम्बन्धी शोचनीय परिस्थिति है । अभी हाल में कलकत्ते की “आनन्द बाजार पत्रिका” (बंगला दैनिक) ने यह दावा किया था कि उसकी ग्राहक-संख्या सबसे अधिक है । पर “स्टेट्समैन” इसे गलत बताता है और आडिटर के दिये हुए सर्टिफिकेट के आधार पर यह घोषित करता है कि प्रचार की दृष्टि से भी सर्वश्रेष्ठ पत्र में ही हूँ । “स्टेट्समैन” के दो दैनिक संस्करण निकलते हैं—एक कलकत्ते से, दूसरा दिल्ली से—और दोनों के ग्राहक मिलाकर ४४ हजार के करीब होते हैं । तो इस देश के दैनिक-संसार में ऊँची-से-ऊँची ग्राहक-संख्या यही ठहरी ।

अब इंग्लैण्ड की बात सुनिये । १९३३ के जो आँकड़े प्रकाशित हुए हैं उनसे जाहिर होता है कि सबसे अधिक ग्राहक “डेली हेरल्ड” के थे, अर्थात् बीस लाख ! औरों की ग्राहक संख्या यों थी:—

डेली मेल	१,८५३,९५८
डेली एक्सप्रेस	१,८५०,०००
न्यूज क्रानिकल	१,३१५,६००
डेली मिरर	१,०७१,२००
डेली स्केच	१,०१२,६०३
डेली टेलीग्राफ	३२७,२३०
टाइम्स	१७९,८७३
मॉनिंग पोस्ट	१३०,७७४

इस समय “डेली हेरल्ड” और “डेली एक्सप्रेस” दोनों ही बीस लाख से ऊपर हैं। लन्दन से तीन दैनिक सन्ध्या-समय प्रकाशित होते हैं—ईवनिंग न्यूज़, ईवनिंग स्टैण्डर्ड और स्टार। इनके ग्राहक क्रमशः इतने थे—६५६,३८३; ४०६,००० और ५०७,९१२।

साप्ताहिक पत्रों की ग्राहक संख्या इस हिसाब से थी:—

न्यूज़ आव् दि वर्ल्ड	३३५००००
पीप्ल	३००००००
रेडियो टाइम्स	२००००००
सन्डे पिक्चोरियल	१७०००००
जान बुल	१५०००००
सन्डे एक्सप्रेस	१०५९७२४
सन्डे डिस्पैच	९२८५६८
आबजर्वर	२१०४८५
पच	१२५०००

“डेली हेरल्ड” मजूर दल का मुखपत्र है और उसकी इतनी बड़ी ग्राहक संख्या होना अवश्य ही अभिनन्दनीय है। पर उसके सम्बन्ध में दो एक बातें ध्यान में रखने की हैं। मजूर दल ने पहले उसे आगे बढ़ाने के लिये भरपूर प्रयत्न किया पर कृतकार्य न हो सका। फिर उसने लन्दन के एक बहुत बड़े प्रेस को सांझीदार बनाकर प्रकाशन का काम उसे सौंप दिया। तब से “डेली हेरल्ड” की उत्तरोत्तर उन्नति होती गयी। पर इसका रंग-ढग वह न रहा जो पहले था। कोई भी अंक देखिये, यह स्पष्ट-सा जान पड़ेगा कि इसके संचालकों की दृष्टि प्रधानतः ग्राहक संख्या पर है, समाजवाद के ऊँचे और पवित्र सिद्धान्तों पर नहीं। इसे प्रकाशित करने वाले प्रेस का नाम आडहम प्रेस है। बहुत बड़ी कम्पनी है। १९३१ में मैंने इसका छापाखाना देखा था। उस समय सब मिलाकर प्रायः ४५ पत्र यहाँ से निकलते थे—जिनमें विशेष उल्लेखनीय है “डेली हेरल्ड” (२००००००), “पीप्ल” (३००००००) और “जान बुल”

(१५०००००) । ऊपर और जित दैनिकों के नाम आये हैं उनमें “न्यूज क्रानिकल” और “स्टार” को छोड़ बाकी सभी कन्जर्वेटिव या अनुदार दल के मुखपत्र कहे जा सकते हैं । हाँ, सभी एक ही राग नहीं अलापते । उदाहरणार्थ, “डेली मेल” इस समय चर्चिल का समर्थक है तो “टाइम्स” बाल्डविन का । “न्यूज क्रानिकल” लिबरल पार्टी का मुखपत्र है, यद्यपि इस पार्टी में भी कुछ बरसों से दलबन्दी का ऐसा दौरदौरा है कि इसमें एकता नाममात्र को रह गयी है । कहना चाहिये कि “न्यूज क्रानिकल” उस ‘लिबरल’ नीति का समर्थक है जो सम्पूर्णतः न तो लायड जार्ज की नीति है, न सर हर्बर्ट सैमुयल की, न सर जान साइमन की । इसके प्रधान संचालक एक जगद्विख्यात अर्थशास्त्री हैं जो पहले “इकानामिस्ट” नामक पत्र के सम्पादक थे और साइमन कमीशन के सलाहकार की हैसियत से कुछ समय इस देश में भी बिता चुके हैं । “स्टार” भी “न्यूज क्रानिकल” कम्पनी की ही सम्पत्ति है ।

अगर यह प्रश्न किया जाय कि ऊपर जितने पत्रों के नाम आये हैं उनमें सबसे प्रभावशाली पत्र कौन है तो “टाइम्स” का उल्लेख करते किसी को भी सकोच न होगा । फिर भी ग्राहक-संख्या के लिहाज से उसका नम्बर बहुत नीचे है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किसी पत्र के ग्राहकों की संख्या ही सब कुछ नहीं । अर्थात् इससे भी परे कोई चीज है जिससे हम किसी पत्र का ठीक-ठीक मूल्य आँक सकते हैं । ‘टाइम्स’ के ग्राहक दो लाख से अधिक भले ही न हो पर वे प्रायः ऐसे लोग हैं जो विचारशील कहे जा सकते हैं और जो स्वभावतः ऐसे पत्र को पढ़ना पसन्द करते हैं जिसमें उनके मस्तिष्क के लिए रोज काफी खुराक मिल सके ।

पर इस लोकसत्तात्मक युग में संख्या की अवहेलना भी नहीं की जा सकती । ‘डेली मेल’ या ‘डेली एक्सप्रेस’ जैसे पत्र समाज के लिए खतरनाक हैं, क्योंकि वे रोज लाखों मनुष्यों के कानों में ऐसी बातें भरते रहते हैं जो सत्य से कोसों दूर हैं और उनके कुसंस्कारों को उत्तरोत्तर

दृढ़ करनेवाली है। जहाँ ऐसे मनुष्यों को ही जनता का नाम और प्रतिनिधियों के चुनाव का अधिकार प्राप्त हो, वहाँ बड़े समाचारपत्रों की उपेक्षा असम्भव-सी बन जाती है। महासमर के समय में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ऐस्क्विथ को इसका बहुत ही कटु अनुभव हुआ था। “डेली मेल” और “टाइम्स” के तत्कालीन स्वत्वाधिकारी नार्थ क्लिफ ने अपने प्रीपेगेडा या प्रचार द्वारा उन्हें सिंहासनच्युत कर दिया। आज जो मन्त्रिमण्डल है उसका लन्दन के (प्रचार की दृष्टि से) बड़े पत्रों में एक भी समर्थक नहीं। “डेली हेरल्ड”, “डेली मेल”, “डेली एक्सप्रेस”, “न्यूज क्रानिकल”—सभी उसके विरोधी हैं। यही हाल सध्याकालीन पत्रों का है। फिर क्या ‘टाइम्स’ जैसे पत्र की सहानुभूति या समर्थन वह यथेष्ट समझ सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि जनरल एलेक्शन के दिन, फूसला अधिक सख्यक वोटों से ही होगा। इटली, रूस या जर्मनी जैसे देशों में तो विरोधी समाचारपत्रों का अस्तित्व ही असम्भव है, पर अन्यत्र—जहाँ विभिन्न पार्टियाँ और उनके मुखपत्र हो सकते हैं—कोई भी मन्त्रिमण्डल यह देखते हुए सुख की नीद नहीं सो सकता कि लोग लाखों की तादाद में उसके विरोधी पत्रों के ग्राहक बनते जा रहे हैं।

क्या कारण है कि जहाँ “टाइम्स” के पूरे दो लाख भी ग्राहक नहीं वहाँ “डेली एक्सप्रेस” जैसे पत्र के ग्राहक बीस लाख से ऊपर हैं? उत्तर यही हो सकता है कि अधिकांश पाठकों को जो चीजे पसन्द हैं वे “टाइम्स” में उन्हें नहीं मिलती। यों तो उसका दाम भी ज्यादा है, पर मुख्य कारण यह है कि उसने अपना जो स्टैंडर्ड बना रखा है वह सर्व-साधारण की दृष्टि से ऊँचा ही नहीं नीरस भी है। उन्हें मजा आता है उन चटपटी बातों में, उन गन्दी-अश्लील यद्यपि सच्ची कहानियों में जिनसे “डेलीमेल” जैसे पत्रों के कालम भरे रहते हैं। इस सम्बन्ध में “न्यूज क्रानिकल” प्रशंसा के योग्य है। लोकप्रियता की दृष्टि से जो विशेषतायें आजकल आवश्यक समझी जाती हैं उनमें से अधिकांश को अपनाकर भी इस पत्र ने अपना एक ऊँचा स्टैंडर्ड कायम कर रखा

है और बराबर ऐसी सामग्री जुटाने की चेष्टा करता है जो उसके पाठकों के लिए सुरुचिकर ही नहीं बल्कि हितकर भी हो ।

भारतवर्ष सब बातों में दीन-हीन है । इंग्लैण्ड जैसे देश की बात ही क्या और भी कितने ही देशों के मुकाबिले में हमारे पत्रों की ग्राहक-संख्या नगण्य-सी जान पड़ती है । और अपने देश में भी हमारे पत्र “स्टेट्स्मैन” या “टाइम्स आव् इण्डिया” की बराबरी नहीं कर सकते । इसका कारण हमारी साधन-स्वल्पता है । “स्टेट्स्मैन” के हाथ की पूजी साठ लाख और “टाइम्स आव् इण्डिया” की करीब चालीस लाख है (अन्तिम सरकारी रिपोर्ट के अनुसार) । इसमें सन्देह नहीं कि आर्थिक बल यथेष्ट हो तो हमारे समाचारपत्र सब विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी आज से कही अच्छा नतीजा दिखा सके ।

(पढ़ने के 'योगी से)

बाँस

बलिहारी वा बाँस-बंस की बंसी-सी सुकुमारी ।

सदा रहत जो करज श्याम के, नेकहु होत न न्यारी ॥

—(सूरदास)

धन्य थी सचमुच वह बाँसुरी और धन्य था वह वंश जिसमें उसने जन्म लिया । उसमें असाधारण गुण-गरिमा न होती तो वह यशोदा के लाल की ऐसी लाड़ली न बन पाती । ब्रज में उसे बजे न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गईं, पर आज भी उसकी कलध्वनि लाखों-करोड़ों को मुनाई दे रही है ।

पर वही बाँस की एकमात्र देन न थी । किसी भी छिद्रान्वेषी को बाँस ने कभी यह कहने का मौका न दिया कि इसने मुरली दे दी, अब इसके पास देने को क्या रहा ! जब भारतवर्ष वशी-वट की छाँह से निकल कर, कल-कारखानों के जमाने की करारी धूप में आ खड़ा हुआ और अपनी इच्छा के साधनों की तलाश करने लगा तब उसे पता चला कि उसका एक बड़ा सहायक और सरक्षक बाँस है । किसी को भी यह कहने का कोई हक न था कि बाँस की सेवाओं के इतिहास का अन्तिम अध्याय लिखा जा चुका—बल्कि वैज्ञानिक तो यहाँ तक कहने को तैयार थे कि उस इतिहास के सब से महत्त्वपूर्ण अध्याय का अभी श्रीगणेश ही हो रहा है । किसी युग में वह यहाँ संगीत-सुधा बरसा चुका था । फिर जब हमने अपना घरेलू जूआ उसके कन्धों पर रख दिया तब वह पूरी वफादारी के साथ भार-बहन करने लगा । वफादारी के साथ उसमें दिलदारी भी थी । तभी तो हमने अपने निर्वाह के लिए उससे जब जो माँगा पाया और इस औद्योगिक युग में भी जब हम उससे याचना

करते हैं तब वह निष्फल नहीं जाती। कल्पवृक्ष का यह प्रतिनिधि नित्य नयी चीज देने को तैयार है।

भारतवर्ष में जहाँ बाँस के जगल हैं वहाँ आज एक अभूतपूर्व हल-चल-सी मची हुई है। हलचल इसलिए है कि लाखों की तादाद में बाँस काटे जा रहे हैं और जगलो से उनकी निकासी हो रही है। पहले वहाँ जो शान्ति थी वह अब भग हो चली है और आस-पास के ग्रामीणों के जीवन-सरोवर में भी हिलोरे उठने लगी है। जिस बाँस का कुछ ही बरस पहले कोई गाहक न था उसके लिए खासी प्रतियोगिता होने लगी है और जगल के मालिक से लेकर मजदूर तक सब अपनी-अपनी माँग बढ़ाने लगे हैं। जहाँ हिरण चौकड़ी मारते थे वहाँ अब मोटर-लारियाँ दौड़ रही हैं और जहाँ शेरों की दहाड़ सुनने में आती थी वहाँ मजदूरों की टोलियों द्वारा होनेवाले कुठाराघात का शब्द सुनाई दे रहा है। और यह सब इसलिए कि बाँस कट-छँटकर जगल से प्रस्थान करे, फिर जल या स्थल-मार्ग से अपनी यात्रा पूरी कर किसी कारखाने में पहुँचे और वहाँ पिसकर, पीटकर, गलकर, धुलकर, घुलकर, निचुड़कर, एक करामाती मशीन पर कागज का रूप धारण करे—जिससे आपके सामने की पुस्तक तैयार हो सके और ऐसे साधनों के द्वारा इस देश में ज्ञान का आलोक फैल सके।

कागज की कहानी चीन से आरम्भ होती है। वही से इसके बनाने की विद्या यूरोप गई और वही से वह भारतवर्ष आई। यूरोप में इस विद्या ने बड़ी उन्नति की और यह उन्नति विशेष रूप से पिछली शताब्दी में हुई। भारतवर्ष में पहले कागज सन, रूई, पटसन आदि से बनता था। फिर एक प्रकार की घास का व्यवहार होने लगा जो कई कारखानों में अब तक जारी है। पर इस देश में वह घास इतनी नहीं कि पर्याप्त कही जा सके, इसलिए वैज्ञानिक दूसरे कच्चे माल की तलाशी करने लगे। काफी समीक्षा-परीक्षा के बाद वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इस देश की समस्या बहुत-कुछ हल हो सकती है तो बाँस से। यो तो कागज बनाने

के लिए उद्भिजमात्र काम में लाया जा सकता है, पर व्यवहार में हमें कितनी ही चीजों को छोड़ देना पड़ता है। आपके तन पर का सूती वस्त्र भी उद्भिज है और उससे बहुत ही अच्छा कागज बन सकता है, पर वह सस्ता नहीं पड़ सकता। सरपत या सरकंडे से कागज बनाने है, तो उसमें जितनी ताकत आनी चाहिए नहीं आती। कोई लकड़ी बेहद सख्त है, तो किसी के रेशे बेहद छोटे और कमजोर हैं। कोई हिमालय से नीचे मिलती ही नहीं, कोई मिलती भी है, तो इतनी कम कि उसका मिलना न मिलना बराबर है। ऐसी स्थिति में कागज की दृष्टि से हमारे काम की चीज है तो बाँस, जिसमें कई गुणों का समावेश है और जो काफी बड़ी तादाद में मिलने लायक है।

बाँस में कागज के अलावा भी बहुत-कुछ देने की शक्ति है। हम लोगों के जमाने में लकड़ी से चीनी और आटा जैसी चीजें बन चुकी हैं। कृत्रिम रेशम तो उससे बहुत ही बन रहा है। भारतवर्ष में इसकी काफी खपत है और यहाँ हर साल तीन-चार करोड़ रुपये का माल बाहर से आता है। यह रेशम लकड़ी के उसी सार-भाग से तैयार होता है जिससे कागज। इसलिए निकट भविष्य में अगर बाँस से रेशम बनने लगे तो कोई आश्चर्य की बात न होगी।

बाँस का जो भाग कागज के काम नहीं आ सकता उसे इस समय नाले या परनाले में बहा दिया जाता है। दूसरे देशों में जहाँ बहुत बड़ी तादाद में कागज बनता है, इस असार भाग का भी, कितनी ही वस्तुओं के उत्पादन के लिए, उपयोग किया जाता है। भारतवर्ष में यह भी सम्भव नहीं दीखता। यहाँ के कारखाने उतने बड़े नहीं। फिर कोई उन वस्तुओं का उत्पादन भी करे, तो उन्हें बेचे कहाँ? यों तो कागज के लिए भी बाँस का उपयोग अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही है, पर इस थोड़े समय में ही उसने जना दिया कि इस आधुनिक औद्योगिक युग की चुनौती का जवाब देने की उसमें कैसी अद्भुत क्षमता है।

पर दुःख का विषय है कि बाँस का वंश विस्तार करना तो दर-किनार,

कहीं-कहीं लोग अदूरदर्शिता के कारण इसकी हस्ती तक मिटाते जा रहे हैं। बाँस इस देश को प्रकृति की एक बहुमूल्य देन है। इसके संचय और सस्यावृद्धि के लिए हम सबको दूरदर्शिता से काम लेना चाहिए। दूसरे देशों में जिनकी लकड़ी से कागज बनता है वे पेड़ ५०-६० साल में काटने लायक होते हैं ! बाँस की यह खूबी समझिए कि वह तीन-चार साल में ही तैयार हो जाता है। फिर भी याद रखने की बात है कि हमारी आवश्यकताएँ दिन-दिन बढ़ रही हैं और हमारे पास बाँस इतना अधिक नहीं कि हम उसके साथ चाहे जैसा भी व्यवहार करे, वह पर्याप्त बना ही रहेगा।

पहले इस देश में कहा जाता था कि बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। आज ज्ञान की जगह विज्ञान कहना अधिक उपयुक्त होगा। बाँस को—दूसरी वनस्पतियों को—अपनी स्थिति मात्र को हमें वैज्ञानिक की दृष्टि से देखना चाहिए। तभी हम ज्ञान के आधार पर होनेवाले कर्म के मैदान में सफल उतरेगे और तभी दुःख-दैन्यादि के बन्धन से हमारी मुक्ति हो सकेगी।

(पटना युनिवर्सिटी गद्य-संग्रह से)



खाँ साहब

कहानी दरभंगा की है और वह भी पुरानी। यह लिखी जा रही है महासमर नं० २ के बाद और जिस समय की यह बात है उस समय महासमर नं० १ भी भविष्य के गर्भ में था।

भूकम्प के बाद से सुनता आ रहा हूँ कि दरभंगा जो था, अब न रहा—‘वह चौकियाँ बदल गई’, थाना बदल गया।’ मालूम नहीं, परिवर्तन किस हद तक हुआ है। इतना निश्चित है कि किसी नगर की रूप-रेखा-मात्र बदली जा सकती है, उसकी आत्मा नहीं। काया-कल्प हो जाने पर भी, जहाँ तक नागरिक जीवन का सम्बन्ध है, दरभंगा आज भी वही दरभंगा होगा जो भूकम्प से बरसो पहले था। उसका हृदय वही होगा—उसकी हृत्तन्त्री से निकलनेवाले सुर भी प्रायः वही होंगे।

जब कभी वह पुराना दरभंगा याद आता है तब मेरे एक पड़ोसी खास तौर से आँखों के सामने आ जाते हैं। स्मृति-पटल पर उनकी मूर्ति अमिट रूप से अंकित है। हमारी दुनिया में वह ‘खाँ साहब’ के नाम से मशहूर थे। यह दुनिया कुछ हद तक व्यवसायियों की, कुछ हद तक छात्रों और अध्यापकों की, और कुछ हद तक मुवक्किलों और वकील-मुख्तारों की थी। इसके दायरे में कभी-कभी दूसरे लोग भी आ जाया करते। पर जो कोई ‘खाँ साहब’ के समागम में आता उससे उनकी गुण-गरिमा की दाद दिये बिना न रहा जाता। समालोचकों की बात मानी जा सकती है तो उनमें कुछ दोष भी थे। गुण और दोष के बीच की रेखा इतनी सूक्ष्म है कि मैं स्वयं उसे आसानी से नहीं पहचान सकता। मैं इतना ही कहूँगा कि मेरे चरितनायक में कुछ दोष थे भी तो वे चाँद के धब्बों के ही समान थे।

‘खाँ साहब’ का पूरा नाम तो जरा लम्बा-चौड़ा था, पर तिवारी

जैसे लँगोटिया-यार को उन्हें 'महबूब' के ही नाम से पुकारने की स्वतंत्रता प्राप्त थी। उनका जन्म जौनपुर जिले के एक ऐसे पठान-कुल में हुआ था जो गजनी और गोर से सिलसिला मिलानेवालों में था। पर कुलीन पठान होते हुए भी वह अपना पहनावा बराबर हिन्दुओं का-सा ही रखते—मुसलमानी लिबास में तो उन्हें लोगो ने इने-गिने मौकों पर ही देखा होगा। उनकी उम्र का बहुत कम लोगों को पता था। तिवारी से पूछने पर भी कोई सन्तोषजनक उत्तर न मिलता। स्वयं 'खाँ साहब' किसी के जिज्ञासा करने पर इतना ही कहते कि मेरी सेहत से—मेरे बालों से पूछ लो। सेहत काफी अच्छी थी और बालों की गवाही यह थी कि उनकी उम्र पचास से ऊपर न थी। पर तिवारी उनके खिजाब की तारीफ करते हुए कहते कि महबूब की दाढ़ी और जुल्फी का रंग काला देखते-देखते मेरे अपने बाल सफेद हो चले।

'खाँ साहब' के वालिद ठेकेदार की हैसियत से दरभंगा आये और अपने कुछ रिश्तेदारों के साथ स्थायी रूप से वहीं बस गये। यह इस प्रान्त में रेल-निर्माण का युग था। जब उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक, रेल का जाल बिछना शुरू हुआ तब इसका एक फल यह हुआ कि ठेकेदारी के पुराने व्यवसाय में नया बल आ गया। अँगरेज इंजीनियरों के लिए, ठेकेदार अन्धे की लकड़ी का काम करने और पूजी तथा डाली लगाने की क्षमता के हिसाब से घुरस्कृत होने लगे। कुछ समय बाद, यहूदी पूंजीपति लार्ड राथ्सचाइल्ड के आर्थिक सहयोग से बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे कम्पनी की स्थापना हुई और उत्तर बिहार में काफी बड़े पैमाने पर रेल-रूपी आधुनिक सेतु का निर्माण होने लगा। और ठेकेदारों की तरह, उसी निर्माण-कार्य में भाग लेने के लिए, खाँ साहब के वालिद भी उधर जा पहुँचे और दरभंगा को अपने कार्य-क्षेत्र का केन्द्र बना लिया।

इनमें से अधिकांश ठेकेदारों की भाषा भोजपुरी थी और वे अपनी खास संस्कृति के साथ अपनी पुरानी लाठियाँ, पुराने गतके—और कुछ

लोग पुरानी तलवारे भी अपने साथ लेते गये थे। धीरे-धीरे ये ठेकेदार एक जमात या सघ के रूप में सगठित हो चले थे, यद्यपि उसकी ओर से किसी तरह के कागजी घोड़े दौड़ाने की बात कभी किसी के दिमाग में न आई। सघ के प्रत्येक सदस्य का सबसे बड़ा कर्तव्य यह होता कि वह उसकी एकता की रक्षा के लिए हर तरह तैयार रहे। जमात के भीतर लड़ाई-भगड़ों की कमी न थी; पर बाकी दुनिया का मुकाबला करना होता तो वह उन्हें भूल-सी जाती और अपनी एकता की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर ही रहती।

ठेकेदारों के सगठन में एक प्रकार की परिपूर्णता थी, अर्थात् चाहे जैसा प्रसंग, चाहे जैसी परिस्थिति सामने आ जाय, जमात के तरकश में हर तरह का निशाना मारने लायक तीर मौजूद थे। मान लीजिए कि दीवाली की रात को जुआ खेलते समय किसी कोठीवाल ने किसी ठेकेदार की मानहानि कर दी और जमात ने इसका जवाब देना निश्चित कर लिया; तो ऐसी स्थिति में न तो सुयोग्य सेनापति का ही अभाव था, न ऐसे अगिया-बैतालों का जो उसके आदेश से सरे-बाजार उस कोठीवाल की पगड़ी उछाल दें। मैंने देखा तो नहीं, सुना था कि ऐसे कई मौकों पर भोजपुरी जवानों के नारों से शहर के कुछ बाजार—कुछ गलियाँ गूज उठी थी। अगर कभी बात आगे न बढ़ पाई तो इसका रहस्य यह बताया जाता कि या तो शत्रु ने उनके पहुँचते-पहुँचते आत्मसमर्पण कर दिया या कुछ शान्तिप्रेमी लोगों के बीच-बचाव से उससे पहले ही समझौता हो गया। मान लीजिए कि लाठी या तलवार की जगह—दोनों से प्रबल शस्त्र—कलम चलाने की जरूरत आ पड़ी, तो ऐसे मौके के लिए लब्धप्रतिष्ठ लेखक बाबू हनुमान प्रसाद जी मौजूद थे। अंग्रेजी भाषा पर उनका असाधारण अधिकार समझा जाता था। मेरे अध्यापक भी उनका लोहा मानते और कहते कि यह जब कभी कुछ लिखने बैठते हैं तब कलम तोड़ देते हैं। वह खुद इतना ही कहते कि जब किसी को संजीवनी बूटी की जरूरत पड़ती है तब

वह हनुमान को याद करता है। उनका नियम था कि डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर से नीचे दर्जे के अधिकारी को भेजने के लिए किसी आवेदन-पत्र में हाथ न लगाते। शब्द-सलिल के छोटो से किसी 'ओवरसियर' की क्रोधाग्नि को शान्त कर देना—अपनी तर्क-शक्ति से किसी 'सुपरवाइजर' द्वारा की हुई आपत्तियों को निराधार ठहरा देना—यह काम और अर्जीनवीसों का था।

मान लीजिए कि किसी वकील के घर पर होनेवाले मुशायरे में जमात का प्रतिनिधित्व आवश्यक हो गया—खासकर उस अधिवेशन में जो दिल्लीवाले पंडित जगन्नाथ कौल जैसे उर्दू के विद्वान के आगमन के उपलक्ष्य में ठेकेदारों की आर्थिक सहायता से हो रहा हो। सर्व-सम्मति से इस कार्य के सम्पादन के लिए खाँ साहब भेजे जाते और कहना अनावश्यक जान पड़ता है कि हर बार वह अपना फर्ज इस खूबी से अदा कर आते कि अपने जानकारों की निगाह में कुछ उठकर ही रहते। कभी-कभी ऐसी समालोचना जरूर सुनने में आती कि उनकी शेरखानी भड़ोए के पास पहुँच गई; मगर उसपर कोई ध्यान न देता। खाँ साहब के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह होती कि वह ऐसे मौके पर, औरों की तो बात ही क्या, दिल्ली और लखनऊ के भी रोब में न आते और किसी से दबकर दरभंगा का पानी जाने न देते। गरज यह कि जमात का संगठन इस दृष्टि से हुआ था कि वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति यथासंभव आप ही कर सके। ऐसी पूर्ति करनेवाले या तो स्वयं उसके सदस्य थे या उन सदस्यों के सेवक और सहायक। जमात में शिक्षित लोग बहुत कम थे, फिर भी उसमें विद्वानों का आदर था—उसके सदस्य साहित्य, संगीत और कला के सरक्षक थे। जहाँ जमात के अपने सिपहसालार और मीरमुन्शी थे वहाँ अपने ही महामहोपाध्याय और शम्सुल-उल्मा भी थे। अलकार-शास्त्र की दृष्टि में यह कोई दोष न हो तो मैं इतना और कहूँगा कि धोबी, कुम्हार और इत्रफरोश भी उस जमात के अपने ही थे।

उसके सम्बन्ध में कुछ और बातें कहने की हैं।

किसी भी कारोवार को चलाने के लिए पूजी आवश्यक है, चाहे वह अपनी संचित हो चाहे दूसरों से उधार ली हुई। ठेकेदारी भी इस नियम से नियंत्रित थी। उस समय सूद पर किसी प्रकार का सरकारी या गैर-सरकारी प्रतिबन्ध न था। फी सदी दो रुपये माहवार की दर किसी को विशेष आपत्तिजनक न जँचती और सूद-दर-सूद का सिद्धान्त तो दुनिया के बुनियादी उसूलों में माना जाता। इसमें सन्देह नहीं कि व्याज की यह दर बेहद ऊँची थी। इसके बोझ से कितने ही दब गये—चक्रवृद्धि के चक्कर में पड़कर कितने ही घर बरबाद हो गये। हाँ, महाजनों की ओर से इतना जरूर कहा जा सकता था कि जो रकम वे उधार देते उसका एक अंश डूबे बिना न रहता। जोखिम से बचने के लिए उन्हें सूद की सतह काफी ऊँची रखनी पड़ती थी। इस प्रसंग में मुझे 'बाबू टप्पू सिंह' जी की याद आती है। यह उनका असली नाम न था, पर पूरब बंगाल या आसाम में कहीं उन्होंने एक बार अपने को इसी नाम से प्रसिद्ध कर कुछ बड़ी रकम पर हाथ मारा था। यत्किञ्चित् लाभ करानेवाले कल्पित नाम तो और कई थे। संक्षेप में, उनकी कार्य-प्रणाली यह थी—जहाँ शिकार करने का निश्चय हुआ वहाँ अपने अनुचरों के साथ पहुँचे और काफी बड़े पैमाने पर ईंट पथवाना शुरू कर दिया। चारों तरफ यह प्रचार किया जाने लगा कि रेल-निर्माण का एक बहुत बड़ा अध्याय इसी स्थान के आस-पास आरम्भ होनेवाला है और यह तैयारी उसी की भूमिका है। बात-की-बात में बाबू टप्पू सिंह मशहूर हो गये—हवा बँधने से बाजार में साख जम गई—कई जगह खाता खूल जाने पर उन्होंने 'इधर से लेना, उधर देना'—यह काम जारी कर दिया। फिर एक दिन, सबसे बड़े इंजीनियर से मिलने के लिए प्रस्थान करने का बहाना कर, वह चल दिये और फिर वहाँ लौटने का नाम न लिया। उनके जाने के बाद उस थैली के और चट्टे-बट्टे भी एक-एक कर चम्पत हो गये और सब-के-सब कहीं दूर जाकर फिर

उसी इतिहास की आवृत्ति करने लगे। पर ऐसे 'अली बाबा और चालीस चोरो' से पाला पड़ने पर महाजनो की जो क्षति होती उसकी पूति वे और असामियों से करा लेते—ऐसे कर्जदारो से जो पाई-पाई हिसाब चुका देनेवालो में थे। कुछ पाठको के लिए यह बात अचम्भे की हो सकती है। उनकी जानकारी के लिए इतना कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि बट्टेखाते की कमी उन्ही लोगो को पूरी करनी पड़ती जो नादिहन्द नहीं होते—जो कभी स्वप्न में भी टाट उलटने का नाम नहीं लेते। मरने, आग लगने या अन्य दुर्घटना घटने से होनेवाली हानि की पूति अगर ऐसे लोग न किया करे जो जिन्दा और सही-सलामत हैं—जिन पर किसी तरह की आँच नहीं आई है, तो आर्थिक जगत् में बीमा नाम का कोई व्यवसाय ही न रहे।

उन ठेकेदारो की एकता जितनी बहिर्मुखी थी उतनी अन्तर्मुखी नहीं; इसकी ओर ऊपर इशारा किया जा चुका है। पर उनके घरेलू भगड़े बराबर एक सीमा के भीतर ही रहते थे। उन लोगो के सामाजिक जीवन को देखकर कोई यह न कह सकता था कि उसकी तह में कही पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष या लड़ाई-भगड़े भी मौजूद थे। दूसरी विशेषतापूर्ण बात यह थी कि उस जीवन-रूपी वस्त्र का ताना-बाना हिन्दू और मुसलमान दोनो से ही बना हुआ था। जो विषवृक्ष इस समय नजर आ रहा है उसका बीज लार्ड मिण्टो बो चुके थे; पर यह अकुर के रूप में कही था भी, तो दरभंगा-निवासी कम-से-कम ठेकेदार-मंडली अभी इससे परिचित नहीं हुई थी। फलतः उस जमाने के हिन्दू और मुसलमान, एक पत्तल में खानेवाले न होते हुए भी, सच्चे भाई-बद से रहते—सुख में परस्पर अँकवार भरते और दुःख में एक दूसरे के आँसू पोछते। हाँ, शिष्टाचार सम्बन्धी नियम आज से कुछ भिन्न थे। इसका कारण संभवतः यह था कि उन लोगो के शिष्टाचार में जितनी स्वाभाविकता थी उतनी कृत्रिमता नहीं। सभ्यता की दिशा में आगे बढ़ने का अर्थ है स्वाभाविकता को पीछे छोड़ते जाना। ठेकेदार-मंडली वर्तमान

सम्यता से दूर—और उस हद तक—स्वाभाविकता के पास थी। उस जमात में हँसी का अर्थ था ठहाका या अट्टहास—वह चीज नहीं जिसे आजकल मृदुहास या मुस्कान कहते हैं। इसी प्रकार रोने का अर्थ था आर्त्तनाद करना—सिसकना या आँखों में आँसू भर लाना नहीं।

मुझे जो दरभंगा याद है वह निर्माण-महायज्ञ की पूर्णाहुति के बाद का दरभंगा था—जब रेल में कोई नवीनता नहीं रह गई थी और लोग उसके विस्तार से सम्बन्ध रखनेवाली बीती बातों के सस्मरण इस टीका-टिप्पणी के साथ सुनाने लग गये थे—

“जिन दिन देखे वे कुसुम गई सु बीति बहार,

अब अलि रही गुलाब में अपत कँटोली डार !”

इस विषय में खाँ साहब की भी सम्मति कुछ ऐसी ही थी। प्रसंग छिड़ने पर कहते—“जो जमाना मेरी आँखों से गुजर चुका है वह कभी लौटने का नहीं। पहले के अंग्रेज दिल के बादशाह होते थे। जिसपर ढलते उसका दामन अर्शफियो से भर देते। हम लोग मिट्टी देते और बदले में चाँदी लेते। जहाँ ईंटों का एक थाक काम में लगता वहाँ ग्यारह का दाम चुकता। आधा अफसरो को दे देने पर भी बहुत बड़ी बचत होती थी। अब तो गुल में खार ही खार है। अफसर लेना जानते हैं, देना नहीं जानते।”

जब लहर की ज्वार के बाद उसका भाटा शुरू हुआ तब कुछ ठेकेदारों ने तो पूरब की राह ली और कुछ कलकत्ता सिधारे, पर बाकी वहीं दरभंगा बस गये—यह कहकर कि जहाँ दिन कटा है, ईश्वर वहीं रात भी कटा देगा।

“शेख काबा में, कलेसा में बरहमन बँठे;

हम तो कूबे में तेरे मार के आसन बँठे।”

इस प्रकार आसन मारकर बैठनेवालों में खाँ साहब के वालिद भी थे, यद्यपि सत्य के अनुरोध से कहना पड़ता है कि ठेकेदारी से उनका सम्बन्ध-विच्छेद उस लहर का उतार शुरू होने से पहले ही हो

चुका था। खाँ साहब उसकी कहानी यों सुनाते—“मेरी देख-रेख में एक नदी के आर-पार पुल बँध रहा था। वहाँ डाक को पार उतारने के लिए सरकार की ओर से नाव का इन्तजाम था। मैं मनमौजी ठहरा, जब जी चाहता, उस नाव को अपने काम में ले आता। इससे कभी-कभी डाक पार उतरने में कुछ देर हो जाती और इसकी शिकायत कलक्टर के कानों तक जा पहुँचती। एक दिन का जिक्र है कि मैं नाव लेकर कुछ दूर निकल गया। रेती पर रास-लीला होने लगी। मजदूरियों के बीच कुअर-कन्हैया बना हुआ मैं उनसे भूमर गवाने और खुद ताल देने लगा। लौटने पर मालूम हुआ कि डाक को वहाँ पहुँचे चार घंटे हो चुके थे। प्याला भरते-भरते इस बार छलक पड़ा। कलक्टर साहब वालिद को बुलाकर लाल-पीले हुए। मेरे दुश्मन तो यह कहते आये हैं कि उन्होंने हम लोगों का नाम भी ठेकेदारों की फेहरिस्त से खारिज कर दिया, मगर असलियत यह है कि मैंने खुद जोर देकर वालिद को उस मैदान से हट जाने के लिए मजबूर किया। मैं इस नतीजे पर पहुँच गया था कि ठेकेदारी बहुत की, अब और बड़े कामों को हाथ में लेना चाहिए। अगर मैं ठेकेदार बना रहता तो मोती जरूर रोल लेता, मगर जो चीजे मुझे बहरे इल्म में गोते लगाने से मिली हैं वे कभी हाथ न लगती।”

मैंने कभी यह पूछने की धृष्टता नहीं की कि वह चीजे क्या थी। मेरे लिए इतना ही काफी था कि खाँ साहब—बच्चे, जवान, बूढ़े—सब के हमजोली थे और उनकी भोली में हर एक के लिए कोई-न-कोई तोहफा मौजूद रहता था। अवश्य ही मैंने उन्हें कभी किसी किताब के पन्ने उलटते न देखा। पर हो सकता है, वह ज्ञानप्राप्ति के लिए और ही तरीके काम में लाते रहे हों। हो सकता है, वह सबकी नजर बचाकर उस समुद्र में गोते मारते रहे हों। इतना तो उनके विपक्षियों को भी मानना पड़ता था कि साहित्य और जीवन दोनों के सम्बन्ध में उनकी जानकारी असाधारण थी। भले ही उस ज्ञान की गहराई विशेष न रही हो, पर वह इतना विस्तृत था कि बिना किसी प्रकार के श्रम या साधना

के ही खाँ साहब उसे पा गये थे, यह मानने को मैं आज भी तैयार नहीं हूँ। लेकिन वह अपनी बहुज्ञता का रहस्य यह बताया करते कि वह इस मुल्क को, एक छोर से दूसरे छोर तक, अपनी आँखों देख चुके थे, इसका हँसना-रोना अपने कानों सुन चुके थे। जब हम लोग कौतूहलवश यह जानना चाहते कि वह कहाँ-कहाँ जा चुके थे, तब वह कम से कम दो दर्जन शहरों के नाम गिना जाते और तुरा यह कि जिसके विषय में आग्रह कीजिए उसके इतिहास, भूगोल और सामाजिक गठन पर ऐसा प्रकाश डालते जो हम सबके लिए विलकुल नई चीज होती। कलकत्ता में लम्बा चौड़ा मैदान था, आलीशान इमारतें थी। बम्बई के पैर समुन्दर की लहरों से पखारे जाते थे। पर खाँ साहब की दृष्टि में ऐसी बातें विशेष महत्व रखनेवाली न थी। उनका कहना था कि शहर की पहचान शहरियों से होती है—उसके 'सर्वसाधारण' से, उसकी आबादी के औसत से।

प्रश्न—तो इस कसौटी पर कौन-सा शहर सबसे खरा उतरा ?

उत्तर—मुझे तो आदमियत या शराफत जैसी मेरठ में नजर आई वैसी और कहीं नहीं। इसलिए मैं तो चोटी का शहर मेरठ को ही मानता हूँ। हाँ, स्कूल में तुम्हें जो किताबें पढ़ाई जाती हैं, उनमें यह बात नहीं मिलने की।

प्र०—वजह ?

उ०—वजह यह कि किताब लिखनेवाले अक्सर कुएँ के मेढक होते हैं। वे न कभी अपने कूचे से बाहर निकलते हैं न उन्हें बाहरी दुनिया का पता चलता है। यहाँ तो ऐसे मेढक भरे पड़े हैं। जब मैं उन्हें जयपुर की यह खूबी बताता हूँ कि वहाँ एक चौराहे से सारा शहर देखा जा सकता है, तब यह बात किसी के जी में जँचती नहीं। मैं उनसे कहता हूँ कि इसकी सचाई में शुबहा है तो वहाँ जाकर देख लो। मगर जाना-आना तो मेरी तरह जब खाली करने से ही हो सकता है—इसके लिए कोई तैयार नहीं।

अपनी बहुदर्शिता और बहुज्ञता के फलस्वरूप खाँ साहब को जो यश, सम्मान या प्रशंसा प्राप्त थी वह कूपमंडूक-मण्डली के थोड़े-से लोगों को असह्य थी। इसलिए, समय-समय पर, इनके द्वारा उनका मान-महत कम करने की कुचेष्टा की जाती। कभी पीठ पीछे, यह कहा जाता कि उनका ज्ञान गहरा नहीं, छिछला था। कभी यह कि वह रत्न-प्राप्ति के लिए समुद्र में डुबकी लगानेवाले नहीं, बल्कि किनारे बैठकर छलनी में बालू चालनेवाले थे। और, कभी काना-फूसी के जरिये यह प्रचार किया जाता कि जिस 'भारत-भ्रमण' को वह अपनी दिग्विजय-यात्रा बताया करते वह एक काल्पनिक घटना थी—वास्तव में, मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक थी, तो उनकी लंबी-से-लंबी दौड़ जौनपुर तक ! पर जनता कान की कच्ची न थी, इसलिए वह बराबर सुनी-अनसुनी करती गई और खाँ साहब की जो धाक बँध चुकी थी, बँधी रही। उन्हें कलकित करने के लिए सचेष्ट रहनेवाले कुचक्रियों की दाल कभी गलने न पाई।

(२)

वह छोटा-सा खपरैल का मकान—जिसे खाँ साहब अपना गरीबखाना बताते और हम लोग उनका दौलतखाना—हमारे मुहल्ले की उस टोली में था जहाँ विशेषतः मुसलमानों और हरिजनों की आबादी थी। मुसलमानों में कुछ तो पूरब के साकिन थे और कुछ पछाँह के। समय के फेर से पछाहियों की आर्थिक अवस्था उतनी सन्तोषजनक नहीं रह गई थी जितनी किसी जमाने में थी। उन पछाहियों के नेता खाँ साहब को भी कुटिल काल ने एक ऐसे घर में रहने को विवश कर दिया था जिसे साहित्यकार चाहें तो 'महबूब काका की कुटिया' कह सकते हैं। न तो उनके मकान का क्षेत्रफल और न उसकी ऊँचाई इतनी थी कि उनकी पद-प्रतिष्ठा या उनकी आवश्यकताओं को देखते हुए पर्याप्त कही जा सकती। हाँ, मकान के सामने सहन जरूर था और उसमें जूही, बेला जैसे फूलों के लगे हुए कुछ झाड़ यह साबित कर रहे थे कि खाँ साहब के घर में समृद्धि की दीप-शिखा भले ही बुझ गई हो, उनका दिल नहीं बुझा था।

किसी कवि ने कहा है कि और कुछ पल्ले न होने पर भी मनुष्य को चाहिए कि अपनी दो रूखी-सूखी रोटियों में से एक को बेच कर कुछ फूल खरीद लाये और उन फूलों से अपनी आत्मा की तृप्ति करे। अगर खाँ साहब को कभी वैसी परिस्थिति से गुजरना पड़ता तो मेरा विश्वास है कि वह रोटी बेच कर फूल खरीदे बिना न रहते।

खाँ साहब को जिस स्थिति या वातावरण में रहना पड़ता था वह शारीरिक या मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से संतोषजनक न था। गली संकरी थी। उनका मकान छोटा तो था ही, पवन और प्रकाश से प्रायः वंचित रहनेवाला भी था। फिर भी उनके शारीरिक या मानसिक विकास पर उस स्थिति या वातावरण का कोई बुरा असर न पड़ा था। वैसी गली और वैसे घर में रहते हुए भी उन्होंने अपने शरीर को अस्वस्थ, अपने मस्तिष्क को संकीर्ण या अपने हृदय को अनुदार होने नहीं दिया था। वह उन कमजोर आत्माओं में नहीं थे जिन्हें परिस्थिति की प्रतिकूलता पराजित कर देती है या दबा देती है। वह तो उस कमल के समान थे जो गँदले पानी में भी अपने निखार को किसी तरह कम होने नहीं देता—जो सेवार से घिरे रहने पर भी अपना सिर ऊँचा ही रखता है।

पाठक सहज ही अनुमान कर सकते हैं कि खाँ साहब की बैठक उनके घर के अन्दर नहीं थी। जिस स्थान को उनकी बैठक होने का गौरव प्राप्त था वह उनके घर से थोड़ी दूर पर, सड़क के किनारे, एक मस्जिद के पास था। यह मस्जिद उन्हीं के सदुद्योग से तैयार हुई थी। उसके आस-पास की जमीन का मालिक तो कोई और था, पर उसपर कदीमी कब्जा उनका ही चला आता था। वहीं खुली हवा में, आसमान-रूपी छत के नीचे, उनकी बैठकी होती या उनके चक्कर लगते—वही उनके वे संभाषण, और कभी-कभी वे अभिनय भी होते, जो देखने-सुननेवालों को आजन्म याद रहेंगे।

आगे बढ़ने से पहले, संक्षेप में, खाँ साहब की दिन-चर्या बता देना

आवश्यक है। उर्दू के एक आधुनिक कवि ने अपना प्रोग्राम बताते हुए लिखा है—

“ऐ शस्स ! अगर ‘जोश’ को तू ढूँढ़ना चाहे
वह पिछले पहर हल्कए इरफां* में मिलेगा।”

खाँ साहब भी, पिछले पहर, कुछ समय तक ज्ञान के समुद्र में अवगाहन का आनन्द लूटते, यद्यपि उन्होंने कभी गद्य या पद्य द्वारा इस बात का ढिढ़ोरा नहीं पीटा। उनके छिद्रान्वेषियों का कहना था कि तारों की छाँह, वह सबसे पहले पानी भर लाने का काम कर डालते थे—पौ फटने से पहले ही वह मस्जिद के पास के कुएँ से काफी पानी घर पहुँचा देते। जो चश्मदीद गवाह होने का दावा करते उनका बयान था कि इस काम को खाँ साहब जिस फुर्ती से कर डालते वह उनकी उम्र को देखते हुए आश्चर्यजनक थी। जब पानी से सब घड़े भरपूर हो जाते तब पाक-साफ होकर वह मस्जिद में पहुँचते और मुअज्जन की हैसियत से अपने सहर्षमियों को नीद त्याग कर नमाज पढ़ने के लिए वहाँ आमन्त्रित करते। उनके “अल्लाहु अकबर” शब्द मेरे कानों में आज भी गूँज रहे हैं। उन शब्दों के पीछे क्या आस्था थी, क्या उत्साह था, क्या बल था ! उस जोर-शोर से ‘अजान’ देनेवाले मुअज्जन संसार में अधिक न होंगे।

सामूहिक प्रार्थना समाप्त हुई और खाँ साहब संसार-चक्र के संचालन में लगे।

“और सुबह को वह नाजिरे नज्जारए कुदरत
तरफे चमन व सहने-बयाबां में मिलेगा।”†

नमाज पढ़ने के बाद, वह किसी वन-उपवन या वाटिका में जाकर फूल-पत्तियों की बहार देखते या पक्षियों का कलरव सुनते—यह कहना

* हल्कए इरफां = खुदा की इबादत करते हुए सूफियों का गिरोह।

† नाजिरे नज्जारए कुदरत = प्राकृतिक दृश्यों के सौन्दर्य का देखने-वाला। सहनेबयाबां = जंगल का मैदान।

असत्य होगा। वह अरुणोदय जैसे प्रातःकालीन दृश्य को एकटक देखनेवाले भावुक या चित्रकार न थे। उनके लिए रस था तो ऐसी बातों में नहीं कि किसी ने ऊषा के घूँघट का पट खोल दिया या फूलों का मुह धुलानेवाली शबनम की बिदाई का मुहूर्त आ गया, बल्कि ऐसी बातों में कि रात को अकलू और भगलू दुसाध आपस में गाली-गलौज—फिर उसके बाद धील-धप्पड़—कर चुकें थे; अलस्सुबह तिवारी आकर उनसे कह गये थे कि दोनों ने अगर मेरा मुह मीठा न किया तो पानी में आग लगा दूंगा; दमड़ी और रमजान अपने मामले का निबटारा कराने के लिए उनके पास पहुँचने ही वाले थे। गरज यह कि सुबह को खाँ साहब अपने महल के भीतर ही मिलते—कही उसकी राजनीति की चर्चा करते, कही किसी से अपना मेहनताना ठहराते, कही किसी से शुकुराना कुछ कम मिलने पर उसे समझाते, पिघलाते या धमकाते।

“और दिन को वह सरगश्तए असरारे-माआनी
शहरे हुनर व कूए अदीबां में मिलेगा।”*

खाँ साहब दिन को प्रायः अदालत या कचहरी में मिलते। खा-पीकर थोड़ी देर आराम करते, फिर साइकिल पर सवार हो लहरियासराय पहुँचते। ज्ञान का जो भेद जानने के लिए वह वहाँ जाते, वह कानून से सम्बन्ध रखनेवाला होता और जिन अदीबों की संगति में वह वहाँ कुछ समय बिताते वे वहाँ के कानूनदाँ वकील और मुस्तार होते। इस यात्रा से उनके कई उद्देश्य सिद्ध होते थे। अगर किसी मामले-मुकदमे में पैरवीकार हुए, तो अपनी पूरी शक्ति लगाकर पैरवी की। अगर किसी का दिल गुदगुदाने का मौका मिल गया तो उसे बराबर के लिए अपना प्रेमी बना लिया। वह कहा करते कि मेरी बातों से वकील-जैसा पत्थर भी पसीज जाता है! उनकी आय का अधिकांश

* सरगश्तए असरारे-माआनी = वह धुनी जो जीवन के रहस्य ढूँढ़ने में दीवाना हो गया है। शहरे हुनर = हुनरमन्दों के मुहल्ले में। कूए अदीबां = साहित्य-सेवियों की गली में।

लहरियासराय से ही आता था। पर वहाँ अर्थ-प्राप्ति के साथ ज्ञान-प्राप्ति भी होती थी। कानूनी दौंव-पेंच वह यहाँ तक जानते थे कि कर्जदार की ओर से पैरवीकार होने पर महाजन को बरसो सफलता के पास पहुँचने न देते।

“नालिश की, तो तकाजा छूटा,

घर-घर पैसे बांटो—

बड़े भाग से डिगरी पाई,

शहद मिला के चाटो !”

जिस कर्जदार की पीठ पर खाँ साहब होते वह हार जाने पर भी कभी हतोत्साह न होता और बरबादी की नौबत पहुँचने पर भी सुलह या समझौते का नाम न लेता।

बाहरी दुनिया में कहाँ क्या हो रहा है, इसकी भी उनको, अदालत के अदीबों की संगति से, कुछ जानकारी हो जाती। बुनियाद के तौर पर यह जानकारी जरूरी थी, उस पर ऊँची-से-ऊँची इमारत खड़ी करने का काम उनकी कल्पना-शक्ति कर लेती। उस समय न तो इतने अखबार थे, न इतने अखबार पढ़नेवाले। हमारे मुहल्ले का तो यह हाल था कि वहाँ ‘बिहार-बन्धु’ का विशेष प्रचार होने पर भी उसके दो से अधिक ग्राहक न थे ! पर वह पत्र साप्ताहिक था—उसके पहुँचने से बहुत पहले ही खाँ साहब जैसा जीता-जागता, चलता-फिरता, ‘दैनिक’ दुनिया की खबरों का निचोड़, नमक-मिर्च लगाकर, हम लोगों तक पहुँचा जाता था।

“और शाम को वह मर्दे-खुदा रिन्दे खराबात

रहमत-कदए बादाफरोशां में मिलेगा ।”*

भले ही कुछ कवियों या कलाकारों के प्रोग्राम में सुरा-सेवन को

* मर्दे-खुदा = हजरत । रिन्दे = मजहबी पाबन्दी से आजाद ।
 खराबात = शराबखाना । रहमत-कदए = ईश्वर का कृपापात्र घर ।
 बादाफरोशां = शराब बेचनेवाले ।

ऐसा स्थान प्राप्त हो, खाँ साहब शराब की दूकान की ओर नजर उठाना भी गुनाहो में शामिल समझते थे। शाम को उन्हें जो ढूँढना चाहता उसे किसी भट्ठी या मधुशाला में न जाकर और ही दिशा में प्रस्थान करना पड़ता। बहुत सम्भव था कि उस समय उसे वह अपने घर पर ही मिलते—नहा-धोकर, कपड़े बदलकर, अपनी कलाइयों को फूलों के गजरो से विभूषित कर बैठक में जा बैठने या कुछ दोस्तों से मिल आने की तैयारी में। अगर बैठकी हुई तो बैठने के लिए कुर्सियों या दूसरे आसनो को जुटाने का काम पड़ोस में रहनेवाले कुछ स्वयंसेवक कर दिया करते। वह आरामकुर्सी, जिसपर खाँ साहब स्वयं विराजमान होते, उनकी अपनी थी और वह छोटी मेज भी जो खास मौकों पर उनके सामने प्रस्तुत की जाती थी।

गोष्ठी की कार्यवाही का आरम्भ प्रायः उनके द्वारा खाने-पीने की किसी चीज की तारीफ से होता। वह या तो कीमा या कबाब था जो खाँ साहब अपने किसी दोस्त के यहाँ दावत में खा चुके थे—या जर्द-बिरियाँ जो उनकी बीबी अपने हाथों तैयार कर उन्हें खिला चुकी थी। —या खरबूजा जो उनके किसी दोस्त ने लखनऊ से उनके पास भेज दिया था, या शायद, अनार-शर्बत जिसे वह अभी-अभी पीकर आये थे। इनमें से प्रत्येक का स्वाद अपूर्व था—प्रत्येक की वह जितनी प्रशंसा कर सकते, थोड़ी थी। खरबूजे की तारीफ करते-करते वह वाजिदअली शाह तक पहुँच जाते और उनके अन्तिम दिनों की कुछ बातें सुनाकर हम लोगों की आँखों में आँसू ला देते। फिर अँगरेजों की नीति-रीति की आलोचना करते हुए बीसवीं सदी में लौट आते और भारतवासियों के साथ होनेवाले अन्यायों का इस खूबी से वर्णन करते कि हम लोगों का खून उबल उठता। पर उनको न तो उन आँसुओं को सुखाते देर लगती न उस खून को ठंडा करते। अपनी कला-कुशलता से वह बात-की-बात में महफिल का रंग इस तरह बदल देते कि जहाँ करुणा या क्रोध ने छाया-सी कर दी थी वहाँ हास्य के आविर्भाव से प्रकाश-सा फैल जाता।

उनकी वाणी में कुछ ऐसी अद्भुत शक्ति थी कि वह चाहे जिस रस की सृष्टि कर सकती थी, जब चाहे हमें हँसा सकती, जब चाहे हमें रुला सकती थी। उसने हमें रुलाया कम हँसाया अधिक—यह न कहना सत्य पर पर्दा डालना होगा।

कभी-कभी यह सन्ध्याकालीन गोष्ठी इसलिए स्थगित हो जाती कि उस समय वह और कहीं उपस्थित होते। उदाहरणार्थ, उस मैदान में जहाँ मेरे सहपाठी फुटबाल खेला करते; वहाँ पहुँचकर वह 'हजरते दाग' की तरह कहीं बैठ नहीं जाते, बल्कि खेल के समाप्त होने तक अपने पैरो के सहारे प्रगतिशील ही बने रहते। मैदान की परिक्रमा करने के उद्देश्य से ही वह वहाँ जाया करते, यह नहीं कहा जा सकता। कुछ प्रचार करना भी उस उद्देश्य का एक अंश होता। उनका तरीका यह था कि जहाँ दस-बीस दर्शक नजर आये, उनके बीच जाकर खड़े हो गये और अपनी बातों से सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया। फिर एक खेलाड़ी की ओर इशारा कर कहने लगे—“मैं तो कहूँगा कि इसका खेल लासानी है। पालित और यूसुफ से भी यह कोसों आगे निकल गया। गेंद मिलते ही ले उड़ता है, और तारीफ यह कि खेल के सारे दावों-पेच ही नहीं जानता, ताकत और जुरंत भी रखता है। मगर यह है कौन?” किसी से उत्तर मिलता—‘जा—’। नाम सुनते ही वह चौंक उठते। कहते—“आप मजाक तो नहीं कर रहे हैं? जरा मुझे गौर से देखने दीजिये।” और फिर इस अभिनय को इन शब्दों में समाप्त करते—“आपका कहना ठीक है। यह तो मेरा बेटा ‘जा—’ ही है! मुझे यह तो मालूम था कि वह कभी-कभी फुटबाल खेलने आ जाता है, मगर बड़े-बड़े खेलाड़ियों के कान काट लिये, इसका पता न था।” किसी दर्शक के मुह से निकलता—“अच्छा! ‘जा—’ आपका बेटा है?” कोई कहता—“यह तो यहाँ के मशहूर खेलाड़ियों में है।” कोई उन्हें मुबारकबाद देना शुरू करता। पर यह सब सुनने के लिए वह वहाँ न ठहरते। अपनी बात पूरी की और चल दिये। शायद दर्शकों के दूसरे

गोल में जा पहुँचे और उसी ढंग से उसका भी अज्ञानान्धकार दूर करने लगे । (३)

यहाँ एक घटना याद पड़ती है । समस्तीपुर से आई हुई रेलवे-टीम और दरभंगा की किसी टीम के बीच 'मैच' या 'दंगल' था । खाँ साहब का लड़का उन दिनों रेलवे-टीम की ओर से खेलने लगा था । उसका कप्तान एक अंग्रेज कर्मचारी—शायद डी० टी० एस०—था । खेल शुरू होने से पहले खाँ साहब उसके पास पहुँचे और पूछने लगे—“मिजाज तो अच्छे हैं ? समस्तीपुर से यहाँ तक आने में कोई तकलीफ तो नहीं हुई ? मेरे लड़के के बारे में कोई शिकायत तो नहीं ?” उसने, इन बातों के उत्तर देकर, खाँ साहब से पूछा—“आज के दंगल में जीत किसकी होगी ?” खाँ साहब ने जवाब दिया—“कहना जरा मुश्किल है । फिर भी मैं खुदा से दुआ करने जा रहा हूँ । जीत आपकी ही होनी चाहिए ।” खेल शुरू हुआ । पाँच मिनट के ही भीतर रेलवे-टीम एक गोल खा गई । फिर दस मिनट बाद दूसरा गोल ! खाँ साहब को दर्शकों की आँखों से ओझल होते देर न लगी । परन्तु खेल के उत्तरार्द्ध में पासा पलटा और जो हारे हुए थे वे बाजी मार ले गये ! समाप्ति की सीटी बजते ही खाँ साहब न जाने कहाँ से निकलकर उछलने-कूदनेवालों के साथ हो लिये और कप्तान के पास पहुँचकर उस पर अपनी बधाइयों की वर्षा करने लगे । उसने पूछा—“पहले हम लोगो को क्यों हारना पड़ा ?” खाँ साहब ने उत्तर दिया—“मुकाबला सस्त था । अगर मैं आज खुदा से दुआ न करता तो यह जीत न होती । मगर दुआ करते ही खुदा तक नहीं पहुँच जाती । इसमें भी कुछ वक्त लगता है । ज्यों ही मेरी दुआ पहुँची, हार की जगह जीत का फरमान निकल गया ।” कप्तान ने खुश होकर खाँ साहब को बतौर इनाम पाँच रुपये का एक नोट दिया और उनसे पूछा—“क्या तुम भी कभी फुटबाल खेलते थे ?” खाँ साहब को यह जवाब देते जरा भी देर न लगी—“जनाबे आली, खेलता ही नहीं था, अब भी खेलता हूँ, और इस सफाई से खेलता हूँ कि कलकत्ता का भी कोई खेलाड़ी

शायद ही मेरी बराबरी कर सके । मैं इस मैदान से 'किक' करता हूँ और गेंद सीधे मेरे घर की हाँड़ी में जा गिरती है ।" इसके सबूत में उन्होंने कप्तान को उसी का दिया हुआ वह नोट दिखाया और जब उनकी बात उसकी समझ में आ गई तब औरों के साथ वह भी हँस पड़ा और उनके लड़के की ओर मुड़कर बोला—“तुम्हारा बाप होशियार, बहुत होशियार आदमी है ।”

आम के मौसम में खाँ साहब कभी दिन को, कभी शाम को, कुछ समय उन व्यापारियों के बीच बिताते जो मिर्जापुर या बनारस से दरभंगा आकर आम के चालान का काम किया करते थे । इनमें से प्रायः प्रत्येक व्यापारी के साथ उनका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ होता था । किसके दिल में किस तरह राह या घर कर लेना चाहिए—यह वह अच्छी तरह जानते थे । फिर ये लोग तो उनके 'हमबतन' थे जिनकी हूतत्री के तारों पर उनकी उँगलियाँ और भी आसानी से दौड़ सकती थी । जो कोई आता उसका वह हार्दिक स्वागत करते, फिर उससे 'देश' का हाल-चाल पूछते, फिर और प्रसंग छेड़ते और आने वाले को बताते कि कौन-कौन व्यापारी आ चुके थे—आम की फसल कैसी थी—कलकत्ता के बाजार का रख क्या था । आरम्भ के लिए इतना काफी था—आगे चलकर वह और बातों से, और उपायों से, अपने पारस्परिक सम्बन्ध में दृढ़ता ले आते और हर आदत या गद्दी से उन्हें नित दो आम मिलने की जो परम्परा चली आती थी उसकी नींव को कुछ और मजबूत कर देते । सम्भव न था कि कोई देहात से आम लेकर उनकी उपस्थिति में किसी गद्दी में पहुँच जाय और वह अपना माल वहाँ न बेचकर दूसरी गद्दी की ओर चल दे । “भैया ! जहाँ खुशी हो, जा सकते हो । मगर आम बेचना है तो यकीन रखो कि यह दाम और कहीं मिलने का नहीं । इस गद्दी में किसी को कौड़ी की भी कसर नहीं खानी पड़ती । मेरे अपने बीसों कलमबाग हैं, पर मेरा एक आम भी और कहीं बिकने नहीं जाता । जो कुछ बेचना होता है यही भेज देता हूँ । और एक नहीं, सैकड़ों बार

मिलाकर देखा है कि यहाँ आना-दो-आना ज्यादा मिलता है, कम नहीं। मेरी तो सलाह है कि जो मिल रहा है उसे मंजूर कर लो। मुमकिन है, फिर आने पर यह दाम न मिले।” खाँ साहब के ‘बीसों कलमबाग’ चाहे काल्पनिक ही रहे हो, पर आमो के सम्बन्ध में उनकी जानकारी अच्छी थी। इस विषय पर वह एक नहीं अनेक दिशाओं से प्रकाश डाल सकते थे। इतिहास-रूपी समुद्र का मन्थन कर वह कई रत्न प्राप्त कर चुके थे। इनमें एक तो यह तथ्य था कि जिस आम का रसास्वादन कर औरगजेब ने इस फल का नाम ‘रसना-विलास’ रखा था वह न तो बम्बई का ‘हापुस’ था न लखनऊ का ‘सफेदा’, बल्कि तिरहुत का ‘मालदह’ या ‘लैंगड़ा’ जिसके कुछ पेड़ औरगजेब के बेटे के बगीचे में लगे हुए थे। आम-फरोशो में जब कभी किसी विषय पर वाद-विवाद या भगड़ा खड़ा हो जाता तब उसका निर्णय भी वही किया करते। कजरी मिर्जापुर की अच्छी होती है या बनारस की, इस विषय पर दोनों दलों के दो मत थे और एक बार दलबन्दी के आधार पर होनेवाले खण्डन-मंडन ने ऐसा रूप धारण कर लिया था कि उन्होंने बीच में पड़कर अगर दोनों मतों का समन्वय न कर दिया होता तो शायद शान्ति-भग्न हुए बिना न रहती। वह समन्वय उन्होंने यह बताकर किया था कि बनारस की कजरी और है, मिर्जापुर की और—यह समझना भूल है; कजरी एक ही है, लेकिन वह बनारस यानी अपने नैहर में एक तर्ज से रहती है और मिर्जापुर यानी अपनी ससुराल में और तर्ज से। उन्होंने दोनों शैलियों के सम्बन्ध में जो कुछ कहा उसे गाकर प्रमाणित भी कर दिया। शायद ही कोई दूसरा निर्णायक या गायक उतने सरल और सरस ढंग से कजरी सम्बन्धी द्वैतवाद का मूलोच्छेद कर उसकी जगह विशुद्ध अद्वैतवाद की स्थापना कर सकता था !

“और रात को वह खिलवतीए काकुलो रखसार

ब’ जाने-तरब कूचए खूबां में मिलेगा ।”*

* खिलवतीए = एकान्त कुञ्ज । काकुलों = अलकें । रखसार ॥

मगर खाँ साहब किसी लैला या शीरी के काकुल को देखने के लिए व्याकुल रहनेवाले मजनू या फरहाद न थे । रात को सो जाने से पहले उन्हें जो समय मिलता उसे वह प्रायः अपने एक खास दुश्मन के खिलाफ अपने दिल का गुबार बाहर निकालने में बिताते । उतनी देर के लिए महल्ले में और सब आवाजे उनकी आवाज की बुलन्दी से दब जाती । एक पड़ोसी मुसलमान से उनकी अदावत चली आती थी । यह सज्जन पूरबिये और पैसेवाले थे । पूरब के मुसलमानों को वह कभी अपनी बराबरी के मानने को तैयार न हुए । पर दोनों के बीच शत्रुता हो जाने का खास कारण यह था कि खाँ साहब अपने मत का प्रतिपादन करने में समय से काम न ले सकते थे । इस अदावत का एक नतीजा यह हुआ कि जब-जब उन्होंने अपनी भौगोलिक स्थिति सुधारने या अपने घर को स्थानान्तरित करने की चेष्टा की तब-तब उन्हें अपने इस पड़ोसी के विरोध के कारण विफल होना पड़ा । बढ़ते-बढ़ते बात दूर तक बढ़ गई थी और दोनों के बीच किसी के भी कराये मेल होना असम्भव हो गया था । आजकल शान्ति का प्रश्न सार्वभौम कहा जाता है । मैं अपने तत्कालीन अनुभव से कह सकता हूँ कि यह सचमुच वैसा ही है । अशान्ति की आग धधकने पर दो-चार देशों तक ही सीमित नहीं रहती । उसकी लपट में सारा ससार आ जाता है । और, मुझे अच्छी तरह याद है कि खाँ साहब और उनके पड़ोसी के बीच सद्भाव न होने की जो प्रतिक्रिया होती उससे महल्ले के और लोग भी अछूते न बचते । अक्सर रात को उस प्रतिक्रिया से सारे महल्ले की शान्ति भग हो जाती—वह एक सिर से दूसरे सिर तक विक्षुब्ध हो जाता । उस प्रतिक्रिया में डाँट-डपट; गर्जन-तर्जन और उछल-कूद की ऐसी प्रधानता होती कि दुश्मन का दिल तो दहलता ही, दूसरे अड़ोसी-पड़ोसी भी स्तब्ध-से हो जाते ।

कपोल । (कपोलस्थ अलकावली में ?) ! व' जाने-तरब = ऐयाशी की जान (वह रसिकविलासी) । कूचए खूबां = माशूकों की गली, सुन्दरी प्रेमिकाओं की गली ।

जहाँ खाँ साहब वादल की तरह गरजते, उनके बेटे के हाथ में तलवार बिजली की तरह चमकती—वहाँ ऐसा न होना ही आश्चर्यजनक हो सकता था। ध्यान में रखने की बात यह है कि पिता का आदेश मिलने पर पुत्र को घर से नगी तलवार ले आते देर न लगती, पर उनके लाख माँगने पर भी वह उन्हें यह हथियार न देता। खाँ साहब तलवार छीनने के लिए लपकते तो वह दूर जा खड़ा होता और उनसे दुश्मन को तलवार के घाट उतारने की इजाजत माँगने लगता। खाँ साहब उसे यह इजाजत देने से इनकार करते हुए बराबर यही कहते—“तू तलवार मेरे हाथ में दे दे—मैं अभी सब को दिखाए देता हूँ कि धुनिये की धुनकी पठान की शमशेर के आगे कितनी देर ठहर सकती है।” मगर न खाँ साहब बेटे को शहीद बनने का हुक्म देते, न वह उनके हाथ में तलवार जाने देता। थोड़ी देर तक जोश-खरोश दिखाकर—दुश्मन को चुनौती-पर-चुनौती देकर—‘उसका कातिल दोनो में से कौन हो?’ इस विषय पर आपस में घोर वाद-विवाद कर—पिता और पुत्र धीरे-धीरे शान्त हो जाते, तलवार घर में म्यान के अन्दर पहुँच जाती, हमारे महल्ले की वह हलचल दो-चार दिनों के लिए मिट जाती।

“आपरितोषाद्विदुषा न साधु मन्ये प्रयोग विज्ञानम्”*—खाँ साहब का आदर्श भी इतना ही ऊँचा था। तिवारी-जैसे अनुभवी पड़ोसी को भी जब तक वह इस भ्रम में न डाल दे कि आज महबूब कुछ करके ही रहेगा, तब तक वह अपनी नाट्यकला को सफल माननेवाले न थे।

(पटने के ‘हिमालय’ से)

* जब तक विद्वानों को सन्तोष न हो तब तक (किसी का) प्रयोग कौशल साधु (प्रशंसनीय) नहीं माना जा सकता।

—(शाकुन्तल, कालिदास)

भारत के दो टंडन सपूत

राजा टोडरमल जाति के खत्री थे और उनका अल्ल टंडन था। कहा जाता है कि अकबर की नौकरी करने से पहले शेरशाह की नौकरी कर चुके थे और गढ़ रोहतास के तैयार करने का श्रेय इन्हीं को था। उस किले का काम बड़ी ही धीमी चाल से चल रहा था, जिसपर शेरशाह ने यह कह कर व्यग किया कि जो कर्मचारी धन के लोभी होते हैं उनसे सम्राटों का आज्ञा-पालन नहीं हो सकता। कहते हैं कि इसका नतीजा यह हुआ कि टोडरमल ने रोहतास में एक-एक पत्थर ढोने की मजदूरी एक-एक अशर्फी लगा दी और इसके कारण मजदूरों की कुछ ऐसी भीड़ हुई कि आनन-फानन सारा किला तैयार हो गया और शेरशाह इनका प्रशसक बन गया। आज-कल के कुछ इतिहासकार इसे सत्य नहीं मानते। मुझे स्वयं अशर्फी वाली बात की सचाई में संदेह है। टोडरमल पैसे को पानी की तरह बहानेवाले न थे। ऐसा कोई कारण भी नहीं जान पड़ता कि रोहतास की हवा लगने से कुछ समय के लिये उनकी नीति-रीति भिन्न हो गयी हो, या वह नाप-जोख करना भूल गये हो। टोडरमल को तो सिक्कों की खासी अच्छी पहचान थी, उन्हें यह खूब मालूम था कि कहाँ ग्यारह मासे सोने की अशर्फी से काम निकलता है, कहाँ साढ़े ग्यारह मासे चाँदी के रुपये से और कहाँ उस दाम या दमड़ी से जिसके आविष्कारक भी संभवतः वही थे। टोडरमल शेरशाह के नौकर भले ही रहे हों—रोहतास का किला उनकी देख-रेख में भले ही बना हो—पर जो थोड़ी-बहुत बुद्धि हम लोग रखते हैं उससे यह ग्राह्य नहीं होता कि जहाँ दाम मिलने चाहिये थे वहाँ उन्होंने अशर्फियों की छूट कर दी, जहाँ एक गज नापना चाहिये

था वहाँ उन्होंने पूरा एक बीघा नाप दिया। टोडरमल के दफ्तर में ऐसा अन्धेरखाता कभी खुल ही नहीं सकता था।

आनेवाले दिनों में जब श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी का जीवन-चरित लिखा जावेगा तब—मुझे आशा है—लेखक महोदय ऐसी निराधार बातें लिखने से बचने की पूरी चेष्टा करेंगे। अगर यही तक लिखकर वह सतोष करे कि गांधी जी के दरबार में आने से पहले, यह दूसरे टंडन जी, लाला लाजपत राय के दरबार में नौकरी करते थे तो कुछ हर्ज नहीं। उनका यह लिखना भी बहुत कुछ सत्य की सीमा के भीतर ही होगा कि अपने सेवा-काल के उत्तर-भाग में उन्होंने जिस गुण-गरिमा का परिचय दिया उसकी नींव पूर्व-भाग में ही पड़ चुकी थी। पर वह ऐसी अनर्गल बातें न लिख मारे कि पुरुषोत्तमदास जी जब पंजाब नेशनल बैंक के प्रधान कार्यकर्त्ता थे तब रुपये की जगह अशर्फी या गिन्नी दे डालते या यह कि जब कभी वह बाजार से गुजरते तब गुड़ की कीमत ताँबे में न चुका कर सोने में ही चुकाते। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी बातें तथ्यहीन समझी जायँगी।

टोडरमल टंडन की सच्चाई, कार्यदक्षता, निर्लोभिता, वीरता आदि गुणों की प्रशंसा करते हुए अल्लामी फहामी अबुल फजल ने उन्हें “हिन्दुस्तान के सरदारों में अद्वितीय” बताया है। साथ ही इस बात की शिकायत की है कि उनकी बुद्धिमानी के मुख पर धार्मिक कट्टरपन का रंग था। बात यह थी कि अबुल फजल, फैजी, राजा बीरबल आदि के बहुत समझाने बुझाने पर भी टोडरमल सम्राट के चलाये हुये “दीन इलाही” पन्थ के पथिक न बने। अपनी जाति और परिवार के पुराने रास्ते पर ही चलते रहे। जिन मूर्तियों की वह नियमित रूप से नित्य पूजा किया करते उनके एक दिन चलाचली में खो जाने पर, उन्होंने खाना-पीना और सोना तक छोड़ दिया। बड़ी मुश्किल से अकबर ने उन्हें समझा कर इस वियोग-दुःख के सागर में डूब जाने से बचाया। अबुल फजल यों तो बड़ा ही विद्वान और विवेकी था, पर ‘दीन इलाही’

का ढाँचा तैयार करने में उसका अपना बहुत बड़ा हाथ था। इसलिये जब टोडरमल जैसे प्रभावशाली व्यक्ति ने इस नये धर्म में दीक्षित होना अस्वीकार कर दिया तब उसके दिल को चोट-सी लगी और वह 'अकबरनामा' में अपने इस मित्र के और गुणों की भरपूर प्रशंसा करते हुए भी, इतना कहे बिना न रह सका कि 'यदि वह धार्मिक कट्टरपन, हठ और द्वेष न रखता और अपनी बातों का पक्ष न लेता तो महात्माओं में होता'।*

श्रद्धेय पुरुषोत्तमदास टंडन जी के विषय में भी आधुनिक काल का अबुल फजल कुछ ऐसा ही मत प्रकट करे तो आश्चर्य की बात न होगी। वह सभवतः लिखेगा कि "जहाँ तक हिन्दी और हिन्दुस्तानी का सवाल था इस भले आदमी ने नयी रोशनी को तरजीह न देकर पुरानी रोशनी में ही भटकना मुनासिब समझा और दरबार के दूसरे रत्नों के लाख कहने पर भी अपने हठ या तास्सुब को न छोड़ा। कुछ अजीब-सा आदमी था, बल्कि कहना चाहिये कि बहुत-सी बातों में दुनिया के पर्दे पर बेमिसाल था। तर्क या त्याग को आखिरी हद तक पहुँचा दिया था। अगर उसकी मुट्ठी भर हड्डियों से भी मुल्क का कोई काम बन पड़ता तो उन्हें न्योछावर कर देने से कभी इन्कार कर देने-वाला न था। मगर जिद्दी कुछ ऐसा था कि मलेरिया की शकल में कभी मौत का पंगाम भी पहुँच जाता तो अदरख या तुलसी के पत्तों का रस निचोड़ कर पी लेने के सिवाय और कोई इलाज करने-कराने वाला न था। हिन्दुओं और मुसलमानों में मेल कराने की जी-जान से कोशिश करता और उसके लिये अपनी कुर्बानी कर देने को हर घड़ी तैयार रहता। मगर जब कहा जाता कि यह मेल-जोल हिन्दुस्तानी के जरिये बढ़ सकता है तब उससे हिन्दी की बुतपरस्ती न छूटती और उससे इस नई जवान का सिजदा न बन पड़ता। यह उसकी ही तंगदिली थी जिसने इस नये पौधे को हिन्दुस्तान में बढ़ने या फलने-फूलने

* 'मआसिरुल उमरा, श्री ब्रजरत्नदास कृत हिन्दी अनुवाद से।'

न दिया और जिसकी वजह इस जबान का सरकारी घर-बार पर कब्जा न हो सका। 'दीन इलाही' की तरह हिन्दुस्तानी को भी एक दिन बेमौत मरना पड़ा और तारीख में इस दूसरे टंडन को टोडरमल टंडन की बगल में ही जगह मिल गयी।"

अवश्य ही भावी इतिहासकार इससे पूर्णतः सहमत न होंगे। टोडरमल ने हिन्दू समाज में फारसी लिखने-पढ़ने की परिपाटी विशेष रूप से चलायी—यहाँ तक कि उसके बाद कुछ ही समय में, जहाँ तक कि इस भाषा का सम्बन्ध था, हिन्दू मुसलमानों के उस्ताद बन गये। टंडन जी या तो वैसे दूरदर्शी नहीं—या उनकी दूरदर्शिता कहीं बढ़ी-चढ़ी है और जो छोटा-सा लाभ सामने प्रस्तुत है उसकी वेदी पर वह राष्ट्र से अपने शाश्वत और बड़े लाभ का बलिदान करा देना नहीं चाहते। समय आने पर ही इसका निर्णय हो सकेगा।

अकबर गुणग्राही था। टोडरमल ने औरों की तरह उसके चलाये हुए नये धर्म को स्वीकार नहीं किया या उसके प्रचार में किसी तरह की दिलचस्पी नहीं ली तो इससे सम्राट के भाव में किसी प्रकार का अन्तर न पड़ा—बल्कि जब किसी मौके पर अबुल फजल ने शिकायत भी की तो उसने इतना ही कहा कि मैं अपने कृपापात्र को छड़ा नहीं सकता। उसकी यह गुणग्राहकता—उसकी दृष्टि की यह स्नेहार्द्रता ऐसी थी कि जब टोडरमल ने हरिद्वार जाकर, गंगा के तट पर प्राण त्यागने के विचार से, त्याग-पत्र भेजकर नौकरी से इस्तीफा दे दिया—और यह इस्तीफा मंजूर भी हो गया—तब भी अकबर ने दो ही तीन दिन बाद उसे दूसरा आज्ञा-पत्र भेज कर रास्ते से ही लौटा लिया। इसमें लिखा था कि "ईश्वर के पूजन से निर्बलों की सेवा नहीं हो सकती। इससे अच्छा है कि मनुष्यों का काम सँभालो।" महात्मा जी के कुछ बातों में मतभेद होते हुए भी, टंडन जी उनके वैसे ही कृपा-पात्र होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

टोडरमल को सम्राट से राजा की उपाधि प्राप्त थी। पुरुषोत्तम-

दास जी का प्रजा की दृष्टि में कुछ ऐसा स्थान है कि वह उसके बेताज के बादशाह कहे जा सकते हैं। और अगर तुलनात्मक आलोचना करते समय किसी का ध्यान इस बात की ओर जाय कि अकबर के दरबारवाले टंडन—सैन्य-संचालन या सेनापतित्व भी कर लेते थे तो क्या उसे आजकल के इस टंडन से निराश होना पड़ेगा या उनमें उसे किसी प्रकार की न्यूनता दृष्टिगोचर होगी।

आज ३ नवम्बर के 'लीडर' अखबार में छपा है—

“लखनऊ से आये हुए एक स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ता की जबानी मालूम हुआ है कि २८ अक्टूबर को श्री पुरुषोत्तमदास टंडन जी को राइफल का लाइसेंस मिल गया और ३१ अक्टूबर को उन्होंने अपने बगीचे में जा कर उसे चलाने का अभ्यास भी आरम्भ कर दिया।”

टंडन जी चाहते हैं कि लोग अपने देश की रक्षा के लिये ऐसे अस्त्र-शस्त्रों का प्रयोग सीख लें और इस उद्देश्य से “हिन्दू-रक्षक-दल” भी स्थापित कर चुके हैं। कालिदास के शब्दों में उनका जनता को यह उपदेश होगा कि ‘आर्त्तत्राणाय व. शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि’। आज आर्त्त-त्राण के लिये जनता में शस्त्र-शिक्षा का प्रचार आवश्यक है और टंडन जी से यह हो नहीं सकता कि जो उपदेश दूसरों को दें, स्वयं उसके अनुसार काम न करें। इसलिये उन्होंने अपनी बन्दूक से पहिली गोली दाग कर अपने अभ्यास का श्रीगणेश कर दिया है। देश का सौभाग्य उन्हें सिद्धहस्त और सफल करे।

('संगम' से)

वैशाली

ऐतिहासिक दृष्टि से, मालूम नहीं, ससार में सब से प्राचीन नगर कौन है; पर मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ गाँव की ओर से यदि ऐसा दावा किया जाय तो विशेषज्ञों को इसपर विचार अवश्य करना पड़ेगा और उनका निर्णय चाहे जो हो, उन्हें इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि 'बसाढ़' ससार के प्राचीन-से-प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों में से है।

'बसाढ़' वास्तव में अपमंश है। प्राचीन समय में इस स्थान का नाम 'विशाला' या 'वैशाली' था। वाल्मीकि ने रामचन्द्र की जनकपुर-यात्रा का वर्णन करते हुए उनका यहाँ एक रात ठहरने का उल्लेख किया है और साथ ही यह बताया है कि इसका नाम 'विशाला' क्यों पड़ा। बुद्ध के समय में इस स्थान का नाम 'विशाला' से 'वैशाली' हो गया था और भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में यह इसी नाम से प्रसिद्ध है। राम और बुद्ध के बीच कितनी ही शताब्दियों का अन्तर है, पर विशाला या वैशाली का इतने दिनों का कोई इतिहास नहीं मिलता। इसके इतिहास का आरम्भ ईसा के प्रायः छः सौ बरस पहले से होता है।

वैशाली उस समय सम्भवतः प्रान्त-भर की राजधानी थी। प्राचीन बौद्ध-साहित्य में इसका दूसरा नाम 'मगधपुर' कहा गया है, और जान पड़ता है कि बिम्बिसार से पहले सारा मगध प्रान्त वैशाली के अधीन था। यहाँ के अधिपति वृज्जि क्षत्रिय थे और इनके आठ वर्ग या उपजातियाँ थीं। इनमें लिच्छवि सब से श्रेष्ठ थे और इतिहास में वैशाली के साथ इन्हीं का घनिष्ठ सम्बन्ध भी है। ईसा के पूर्व ४९० साल में बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने लिच्छवियों को पराजित किया और वैशाली, या यों कहना चाहिये कि तिरहुत पर अधिकार जमा लिया और तब से यह प्रदेश मगध-साम्राज्य का भाग बन गया।

लिच्छवियों की पराजय अजातशत्रु की भेद-नीति की सफलता समझनी चाहिये। वास्तव में यह राजा बड़ा चतुर और कूटनीतिज्ञ था; अपने पिता विम्बिसार को मार कर गद्दी पर बैठा था और महाभारत के अजातशत्रु से गुण या कर्म में बिल्कुल विभिन्न था। एक दिन इमने अपने मंत्री से लिच्छवियों की एकता नष्ट करने के सम्बन्ध में परामर्श किया और दोनों ने मिलकर स्थिर किया कि इसके लिये भेद-नीति काम में लायी जाय। दरबार में मंत्री ने सब के सामने वैशाली पर आक्रमण का विरोध किया। राजा ने कहा—“यह ब्राह्मण पागल हो गया है क्या? यह इस काम में क्यों बाधा डालता है?” इसके बाद एक दिन मन्त्री ने वृज्जियों को कुछ प्रेमोपहार भेजा। इसपर राजा और भी बिगड़ा और उसने आज्ञा दी कि मन्त्री का सिर गंजा कर दिया जाय। मन्त्री ने भी कहला दिया कि वह ऐसे राजा की नौकरी करना नहीं चाहता और सीधे वैशाली चला गया।

अब वहाँ का किस्सा सुनिये। लिच्छवियों में कुछ उसके स्वागत के विरोधी थे, पर औरो ने कहा कि, “वाह, हमारे ही लिये इसकी ऐसी बेइज्जती हुई और हमी इसका अनादर करे!” मन्त्री महोदय की बड़ी आव-भगत हुई और धीरे-धीरे वह लिच्छवियों के सलाहकार भी बन बैठे। अब उन्हें अपनी भेद-नीति काम में लाने और अजातशत्रु की इच्छा पूरी करने का अच्छा मौका मिला। एक दिन उन्होंने एक लिच्छवि-राजकुमार को अलग ले जा कर पूछा—“क्यों जी, लोग खेत जोतते हैं?” दूसरे राजकुमार को स्वभावतः यह जानने की इच्छा हुई कि मंत्री ने एकान्त में क्या कहा, पर उसे अपने मित्र के उत्तर से कुछ भी सन्तोष न हुआ। दोनों आपस में लड़ पड़े। दूसरे दिन मंत्री ने किसी और राजकुमार से उसी प्रकार पूछा—“आज आपने दाल कौन-सी खायी है?” उसका कोई मित्र पास ही खड़ा था और उसने जानना चाहा कि इन दोनों में क्या बातें हुईं। पर, उसे राजकुमार की बात का विश्वास न हुआ और उन दोनों में भी मनमुटाव हो गया।

कूटनीति की इस सफलता ने उसका उत्साह और भी बढ़ा दिया और वह इसी उपाय का अवलम्बन कर वैशाली के विनाश के बीज बोने लगा। एक दिन उसने एक लिच्छवि से पूछा कि, “क्या तुम कायर हो?” और दूसरे से पूछा कि, “क्या तुम भिखमंगे हो?” और दोनों से प्रश्न पूछने का कारण यह बताया कि “तुम्हारे कुछ साथी ऐसा कहते फिरते थे, सो मैं जानना चाहता था कि बात क्या है।” उसकी इन हरकतों ने वैशाली में बड़ा अनर्थ कर दिया और भाई-भाई आपस में लड़ने-भगड़ने लग गये।

जब मन्त्री ने देखा कि जहर खूब फैल गया है और वैशाली में प्रेम तथा एकता का स्थान द्वेष तथा विभिन्नता ने ग्रहण कर लिया है, तब उसने राजा को खबर दी कि वायुमण्डल अनुकूल है, आप फौरन चढ़ाई कर दें।

अजातशत्रु तो ऐसे समाचार की प्रतीक्षा में ही था। उसने बहुत बड़ी सेना के साथ पहुँच कर सारे नगर को घेर लिया। वास्तव में इतनी बड़ी सेना ले जाना अनावश्यक था, क्योंकि आपस के भेद-भाव और वैर-फूट के कारण वैशालीवाले, अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिये, एक हो कर लड़ने को तैयार न थे। बार-बार शखनाद होने या नगारा बजाने पर भी लोग उदासीन-से बने रहे। वे यही कहते रहे कि, “जो लक्ष्मी के कृपापात्र है और वीर होने का दम भरते हैं वे मगधवालों से लड़ने जायें। हम लोग तो भिखमंगे और कायर ठहरे, हम क्या लड़ सकते हैं!” नतीजा यह हुआ कि वैशाली को अपनी स्वतंत्रता से हाथ धोना पड़ा और सारा प्रदेश अजातशत्रु के हाथ में आ गया।

लिच्छवि कौन थे और कहाँ से आकर वैशाली में बसे थे, इस विषय पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं। स्मिथ का कहना है कि लिच्छवि तिब्बत से आये थे। बील ने भी ऐसा ही अनुमान किया है। तिब्बत का प्रथम शासक या अधिपति लिच्छवि-वंश का बताया जाता है और तिब्बत के

एक प्रान्त का नाम 'लियल' अर्थात् 'लिका प्रदेश' है। इसी आधार पर यह तर्क किया गया है कि लिच्छवि तिब्बत से आकर वैशाली में बसे थे। स्मिथ ने और भी दलीले पेश की हैं। पर इनमें किसी में कुछ सार नहीं दीखता। असलियत यह है कि मगध-प्रान्त या तिरहुत से बहुत-से बौद्ध धर्म-प्रचारक तिब्बत भेजे गये थे और वे लोग बुद्ध के उप-देश के अलावा इस देश की सभ्यता और सस्कृति भी अपने साथ लेते गये थे। अगर लिच्छवियों के कुछ रस्म-रिवाज या कायदे-कानून वैसे ही हैं जैसे तिब्बतियों के, तो इसका कारण यह है कि वैशाली या पाटलिपुत्र से जानेवाले बौद्ध-भिक्षुओं ने धर्म-प्रचार के साथ तिब्बत में अपनी सभ्यता का भी प्रचार किया। और, यह भी कुछ आश्चर्य की बात नहीं है कि कोई लिच्छवि धर्म-प्रचारक अपनी गुण-गरिमा से तिब्बत का अधिपति बन बैठा हो। डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण का तर्क है कि लिच्छवि ईरान के निसिविस बन्दरगाह से आये थे। इसका भी कोई प्रमाण नहीं है। अगर इतिहास ने डाक्टर साहब का रास्ता पकड़ा तो 'बसाढ' को सम्भवतः 'बसरा' हड़प लेगा और 'अशोक' पर 'अलास्का' का आधिपत्य हो जायगा।

हिन्दू, बौद्ध और जैन—तीनों की ही दृष्टि से वैशाली परम पवित्र स्थान है। मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी के यहाँ एक रात ठहरने का ऊपर उल्लेख हो चुका है। महात्मा बुद्ध यहाँ तीन बार आये। महावीर वर्द्धमान तो यहाँ के निवासी ही थे और इसलिये वे 'वैशालीय' कहे भी जाते हैं।

महावीर का जन्म ईसा के प्रायः छः सौ वर्ष पहले वैशाली के निकटस्थ कोल्लाग गाँव में हुआ था। आपके पिता का नाम सिद्धार्थ था। आप वैशाली के तत्कालीन प्रधानाधिपति चेतक के दौहित्र थे। वैशाली में किसी समय जैनियों की खासी संख्या थी और बौद्धों से खूब वाद-विवाद हुआ करते थे।

इस समय यहाँ आर्य-धर्मावलम्बियों में केवल हिन्दू रह गये हैं।

बुद्ध की मूर्तियों की पूजा अब भी उसी श्रद्धा-भक्ति से की जाती है, पर पूजा करनेवाले हिन्दू ही होते हैं। वैशाली के पुगने किले का ध्वसा-वशेष इस समय 'राजा विशाल का गढ़' नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ एक बालाजी का मन्दिर है, जिसका निर्माण, जान पड़ता है, बसाढ और बौद्ध-धर्म के वियोग के बाद हुआ था। पर दूसरे मन्दिर में गणेश और बुद्ध की मूर्तियों की एक साथ पूजा होती है। इसलाम ने भी थोड़े-से स्थान पर कब्जा कर लिया है और गढ़ के पास ही मीरा साहब का मकबरा है, जिसके कारण वहाँ आज तक खुदाई न हो सकी और यह न मालूम हो सका कि प्राचीन समय में यहाँ क्या था।

बुद्ध पहली बार वैशाली निवासियों के विशेष अनुरोध और आग्रह से यहाँ आये थे। उस समय वैशाली में कोई महामारी फैली हुई थी, जो उनके आते ही मिट गयी ! इसका लोगों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और इसके कारण उनमें से कितने ही 'बुद्ध और सघ' की शरण में आ गये। बुद्ध के हृदय में लिच्छवियों के लिये बड़ा ऊँचा स्थान था। अजातशत्रु उनका अनुयायी था और लिच्छवियों को पराजित करने के विषय में उनका विचार जानना चाहता था। बुद्ध ने उसके प्रश्न के उत्तर में कहा कि—“जब तक वृज्जि-जाति नियमित रूप से अपनी सभा या पंचायत के अधिवेशन करती है, जब तक उसमें प्रेम और एकता है, जब तक वे लोग अपनी प्राचीन मर्यादा का पालन करते हैं और अपनी परम्परा नहीं तोड़ते, जब तक वे अपने गुरुजनों के आदर और सम्मान से विमुख नहीं होते, जब तक कोई परायी स्त्री या बालिका को बल या छल से लेने का अन्याय या अनाचार नहीं करता, जब तक वह जाति अपने धार्मिक आचार-विचार या जीवन में किसी प्रकार की उच्छृंखलता या असौजन्य नहीं दिखाती, तब तक उसका अभ्युदय छोड़ कर अधःपात नहीं हो सकता।”

‘जब तक उसमें प्रेम और एकता है’—बुद्ध का यह वाक्य अक्षरशः सत्य था और जैसा कि हम देख चुके हैं, अजातशत्रु ने उस प्रबल भित्ति

या आधार को नष्ट करके ही अपने शत्रुओं की स्वतन्त्रता का विनाश किया ।

दूसरी यात्रा में बुद्ध ने अम्बपाली नाम की गणिका का आतिथ्य स्वीकार किया । पहले वे उसके बागीचे में ठहरे थे और फिर उसके घर पर आ गये । लिच्छवियों को यह बात नापसन्द हुई, पर बुद्ध ने अपने सदुपदेश से उनका परितोष कर दिया । इस यात्रा में वैशाली के कूटागार नामक स्थान में उनके कई सभाषण हुए और इससे उनके अनुयायियों की संख्या और भी बढ़ी । उनकी तीसरी यात्रा तब हुई जब वह परिनिर्वाण या परलोक-यात्रा की तैयारी कर चुके थे । उन्हें वैशाली होकर कुशीनगर जाना था और लिच्छवियों ने उनके अन्तिम दर्शन कर अपने को धन्य माना । पर इस बार, लोगों ने उन्हें अपने थोड़े-से शिष्यों के ही साथ वैशाली से विदा होने न दिया । हजारों नर-नारी उनके साथ हो लिये और किसी तरह लौटने को राजी न हुए । अन्त में बुद्ध को अपने योगबल का प्रयोग करना पड़ा और चम्पारन जिले के केसरिया नामक स्थान के पास उन्होंने अपने और उन लिच्छवियों के बीच सहसा एक गहरी नदी को पैदा कर दिया । इसके पूर्व वह उन्हें अपना भिक्षा-पात्र दे चुके थे । अपने आराध्य-देव के उसी स्मारक के साथ उन भक्तों को विवश होकर वैशाली लौटना पड़ा । केसरिया में इस समय भी एक स्तूप है और समझा जाता है कि यह लिच्छवियों द्वारा उस स्थान की स्मृति-रक्षा के लिये बनाया गया था, जहाँ उन्हें बुद्ध का भिक्षा-पात्र प्राप्त हुआ था । केसरिया के पास भेखवा और बाया नाम की दो क्षुद्र नदियाँ हैं ; पर, मालूम नहीं, इनमें कौन-सी महात्मा बुद्ध के योग-बल से निकली थी । बाया के दर्शन मुजफ्फरपुर से बसाढ़ जाते समय भी होते हैं ।

बुद्ध के बाद वैशाली की यात्रा करनेवालों में अशोक का नाम विशेष उल्लेखनीय है । वह नेपाल जाते समय यहाँ ठहरा था । इस स्थान पर उसने एक स्तम्भ आरोपित किया था, जिसके दर्शनार्थ आज भी दूर-दूर

के लोग बसाढ़ पहुँचते हैं। यह स्तम्भ नीचे से ऊपर तक एक ही शिला-खण्ड है और इसका शीर्षभाग एक सिंह की भव्य मूर्ति से मण्डित है। जमीन के ऊपर स्तम्भ की ऊँचाई २४ फीट बतायी जाती है। स्तम्भ पर अशोक का कोई लेख खुदा हुआ नहीं है, पर यात्रियों ने उस पर अपने नाम खोद-खोदकर उसके आधे हिस्से की सूरत बिगाड़ डाली है। इनमें अधिकांश अंग्रेजों के नाम हैं और जान पड़ता है कि उनकी सन् १७९३ से ही इस स्तम्भ पर दया-दृष्टि है। अनुमान किया जाता है कि ईसा के प्रायः २५० वर्ष पूर्व यह स्तम्भ आरोपित हुआ था। उस समय नेपाल मगध के आधीन था और अशोक ने अपनी इस यात्रा के स्मारक-स्वरूप कहीं स्तम्भ और कहीं स्तूप बनवा दिये थे। पटने से नेपाल का रास्ता वैशाली या बसाढ़, केसरिया, लौरिया-अरेराज, बेतिया, लोरिया-नन्दनगढ़, जानकीगढ़ और रामपुरवा होकर था। इनमें नन्दनगढ़ और अरेराज में भी अशोक के स्तम्भ हैं और उनपर उसके धर्मलेख भी पाये जाते हैं। रामपुरवा के स्तम्भ की हालत खराब है।

वैशाली के महत्व के ही कारण यहाँ बौद्धों का इतिहास-प्रसिद्ध द्वितीय धार्मिक सम्मेलन हुआ था। यह महात्मा बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के प्रायः ११० बरस बाद की बात है। उस समय वैशाली के भिक्षुओं का आग्रह था कि धार्मिक विषयों में उन्हें कुछ अधिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। पर बाकी भिक्षुओं को यह मंजूर न था। उनका कहना था कि बन्धन ढीला करने का परिणाम बड़ा भयकर होगा और अन्त में स्वतंत्रता उच्छृंखलता का रूप धारण कर लेगी। वैशाली के सम्मेलन का उद्देश्य इसी झगड़े का निबटारा करना था। इसमें ७०० से अधिक भिक्षु-प्रतिनिधियों ने भाग लिया और बड़े वाद-विवाद के बाद यह निश्चय हुआ कि वैशालीवालों की बात न मानी जाय। जान पड़ता है कि उस समय के प्रतिनिधित्व-सम्बन्धी नियम बहुत कड़े थे, क्योंकि वैशाली में सम्मेलन होने पर भी वैशालीवालों को हार खानी पड़ी।

दन्तकथा है कि कनिष्क एक बार वैशाली आया और यहाँ से

बुद्ध का वह भिक्षा-पात्र अपने साथ लेता गया, जो लिच्छवियों को उनसे प्राप्त हुआ था। ईसा की चतुर्थ शताब्दी के आरम्भ में पाटलिपुत्र के तत्कालीन शासक चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छविवंश की एक राजकुमारी के साथ हुआ। बीच में, जान पड़ता है, वैशाली का फिर बल-विस्तार हो चला था, क्योंकि इस विवाह के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त की पद-प्रतिष्ठा और मान-मर्यादा बहुत बढ़ गयी।

प्रसिद्ध चीनी-यात्री फाहियान और ह्वेनसांग भी वैशाली पहुँचे थे। फाहियान ईसा की पाँचवी शताब्दी के आरम्भ में वहाँ गया और ह्वेनसांग सातवी शताब्दी में। ह्वेनसांग ने लिखा है कि वैशाली नगर का घेरा १२ मील का था और उसके पहुँचने के समय वहाँ बौद्धों के अलावा हिन्दू और जैन भी रहते थे। पर बौद्ध धर्म का क्रमशः लोप हो रहा था और नगर भी बड़ी अवनत अवस्था में था। इसके अलावा दो और चीनी यात्री वैशाली आये। इनमें एक का नाम वग-ह्वेनसी और दूसरे का इत्-सिग था। ह्वेनसांग की यात्रा के समय वैशाली और उसके आसपास के प्रदेश हर्षवर्द्धन के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, पर इसके बाद उसकी उत्तरोत्तर अवनति ही होती गयी और इस समय तो बसाढ़ के लोगो को इतना भी नहीं मालूम कि उस स्तम्भ का निर्माता कौन था और उसके निर्माण का अभिप्राय क्या था।

अन्त में वैशाली की सबसे बड़ी विशेषता के सम्बन्ध में कुछ लिखना है। यह विशेषता और कुछ नहीं, यहाँ की शासन-पद्धति थी। लिच्छवियों के कई वर्ग या कुल थे और प्रत्येक का एक अधिपति होता था, जिसे 'राजा' कहते थे। इन राजाओं की एक सभा या पचायत थी और इसी के द्वारा वैशाली का राज्य-शासन होता था। गणाधिपतियों की संख्या ७७०७ बतायी जाती है, क्योंकि वैशाली में इतने ही लिच्छवि-परिवार थे। कुछ विषयों में ये बिलकुल स्वतंत्र थे, और कुछ विषयों में इन्हें सभा या समष्टि के निर्णय के अनुसार चलना पड़ता था। इनकी संख्या और इनके अधिकार चाहे जो रहे हों, यह निश्चित

है कि 'रिपब्लिक' या प्रजातंत्र इस देश के लिये कोई नयी बात नहीं है ।

प्रत्येक वंश या कुल के राजा का एक खास तालाब के जल से अभिषेक-संस्कार होता था । इस तालाब के चारों ओर लोहे का ऐसा जाल था कि पक्षी भी उसमें होकर नहीं आ-जा सकते थे और वहाँ रात-दिन बड़ा कड़ा पहरा रहता था । इस तालाब की दूर-दूर तक ख्याति थी और एक जगह लिखा है कि कोशल के सेनापति की स्त्री ने गर्भवती होने पर पति से कहा कि, "स्वामिन्, मैं वैशाली जाकर उस सरोवर में स्नान करना चाहती हूँ, जिसके पवित्र जल से वहाँ के राजाओं का अभिषेक होता है ।" बसाढ़ में इस समय भी कई पुराने तालाब मिलते हैं, पर मालूम नहीं इनमें बौद्ध-साहित्य की वैशाली के गणराजाओं के अभिषेक की पुष्करिणी होने का गौरव किसे प्राप्त था ।

प्राचीन समय में यह नगर तीन भागों में बँटा हुआ था । खास वैशाली में अधिकतः ब्राह्मणों की बस्ती थी । कुडग्राम, जिसे आजकल बासुकुण्ड कहते हैं, क्षत्रियों का निवास-स्थल था और वणिक्-ग्राम (या आधुनिक 'बनिया') में विशेषतः वैश्य रहते थे । नगर के चारों ओर तीन बड़ी दीवारें थी और किले में प्रवेश करने के लिये तीन ही बड़े दरवाजे थे । ह्वेनसांग के समय में ही अधिकांश इमारतें टूट-फूट चुकी थीं और इस समय तो एक भी दीवार कहीं खड़ी नजर नहीं आती ।

(लोक संग्रह से, आषाढ़ शुक्ल ११, गुरुवार सं० १८८५)

चिलों का कैदी

“ये पद-चिह्न न मिटने पावें—

रहे सभी को इनकी याद ।

जालिम के जुल्मों की करते,

क्योंकि, खुदा से ये फर्याद ।”

—(महाकवि बायरन की कविता से)

यूरोप में स्विट्जरलैण्ड देश के प्राकृतिक सौन्दर्य की बड़ी प्रशंसा है—यहाँ तक कि उसे वहाँ का ‘नन्दन-वन’ कहा जाता है । इसी स्विट्जरलैण्ड में जेनेवा की प्रसिद्ध झील है, जिसके तट पर कितनी ही ऐतिहासिक घटनाएँ घट चुकी हैं और जिसका जल कितनी ही बार स्वतंत्रता के सग्राम में मर मिटनेवालों के रक्त से रंजित हो चुका है । इस समय तो जेनेवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र-सा हो रहा है । राष्ट्र-संघ, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर परिषद् इत्यादि के दफ्तर यहीं हैं, और इसके निवासियों में संसार के प्रायः प्रत्येक देश के प्रतिनिधि मिल सकते हैं । जेनेवा नगर उक्त झील और एक छोटी-सी नदी के संगम पर बसा हुआ है । इस समय यहाँ पूर्ण शान्ति है, पर इसके इतिहास से पता चलता है कि किसी समय यहाँ बड़ी खून-खराबी हो चुकी है और जिस सुख-शान्ति का लोगो को यहाँ आज अनुभव हो रहा है वह इसके उसी, ‘विशुद्ध वलिदान’ का फल है । इस देश के अन्य नगरों का इतिहास भी इस विषय में इससे मिलता-जुलता है । मौका पड़ने पर सभी बहादुरी से लड़ चुके हैं, सभी अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यथेष्ट आत्म-त्याग कर चुके हैं । स्विट्जरलैण्ड की एकता के मार्ग में कई कठिनाइयाँ

थी। विभिन्न जातियाँ, विभिन्न भाषाएँ। यहाँ तक कि आज भी सभी की सन्तुष्टि के लिए इस देश में तीन सरकारी भाषायें—जर्मन, फ्रेंच और इटालियन हैं। पर स्वतंत्रता की प्यास सबकी एक-सी तीव्र थी। अन्याय और अत्याचार का विरोध करने का भाव सबका एक-सा प्रबल था। इसलिए इन नगरों या प्रान्तों ने अपनी सारी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर अपने को एक राष्ट्र में परिणत कर डाला। स्विट्जरलैण्ड, बेलजियम या क्षेत्रफल में, ब्रिटिश-साम्राज्य की समता नहीं कर सकता, न उसके पास जहाजी बेड़े हैं, न बड़ी फौज है, न बड़ी तोपें हैं। संसार में न तो उसका कोई उपनिवेश है, न सन्धिपत्र द्वारा प्राप्त कोई वन्दरगाह है। पर वहाँ स्वतंत्रता की सच्ची उपासना है, परतंत्रता से वास्तविक घृणा है। और इसका फल यह है कि दारिद्र्य-दुख वहाँ के लोगों से दूर है। जो साधन प्रकृति से प्राप्त हुए हैं उनका राष्ट्रीय सदुपयोग हो रहा है, खेती और कल-कारखाने दोनों ही उन्नत अवस्था में हैं। वहाँ के निवासी आप मक्खन-मलाई खा रहे हैं और ससार को भी खिला रहे हैं। आप समयानुकूल चल रहे हैं और—अपनी बनाई हुई घड़ियों के द्वारा ससार को भी समयानुकूल चला रहे हैं।

पर मैं जेनेवा की भील की बात कर रहा था। गत बार जब श्री घनश्याम दास जी बिड़ला जेनेवा गये थे तब अपनी मंडली के साथ इस भील के तट पर प्रायः तीन सप्ताह ठहरे थे। उनके साथ एक दिन भील की परिक्रमा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। भील बहुत लम्बी चौड़ी है। परिक्रमा में पूरा दिन लग गया। पर ऐतिहासिक महत्वपूर्ण स्थानों को देखने का यह अपूर्व अवसर था। इस भील के तट ने समय-समय पर कितने ही ऐसे विप्लववादी लेखकों और स्वदेश-भक्तों को आश्रय प्रदान किया है, जिन्हें और कही खड़े होने को भी जगह नहीं मिल सकती थी। भारत-भक्त श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा को अपना देश तो क्या, लंदन और पेरिस का भी परित्याग करना पड़ा। पर जेनेवा और जेनेवा की भील ने उनका स्वागत किया। आज भी वह इसी के तट पर भारत के

भविष्य का चिन्तन करते हुए अपने जीवन-दीप के निर्वाण की राह देख रहे हैं। इस स्थल की नैसर्गिक सुन्दरता और शान्ति में भी कम आकर्षण-शक्ति नहीं है। क्या आश्चर्य कि इसके किनारे ऐसी वीर आत्मायें काल-यापन कर चुकी हैं और कर रही हैं, जिन्हें सग्राम के बाद विश्राम की आवश्यकता थी और जिन्हें उस विश्राम के लिए ऐसा उपयुक्त स्थान दूसरा नहीं मिल सकता था ?

हम लोगो की इस परिक्रमा का प्रधान उद्देश्य चिलो का जगत-प्रसिद्ध किला देखना था। यह भील के उत्तर तट पर है। और यद्यपि इस समय इसका नाम सार्थक नहीं है, तथापि किसी समय इसका महत्व बढ़ा-चढ़ा था और दुर्ग होने के साथ यह प्रसिद्ध शासनकेन्द्र भी था। पर आज जो सैकड़ों यात्री दूर-दूर से यहाँ आते हैं और इसके दर्शन कर अपने को धन्य समझते हैं, इसका कारण इस किले का वह अतीत गौरव नहीं है। किले तो ऐसे, या इससे भी बड़े-चड़े यूरोप में सैकड़ों होंगे, पर उनमें यह आकर्षण शक्ति कहाँ ? चिलो की प्रसिद्धि केवल एक कविता के कारण हुई—और उस कविता का विषय एक ऐसे कैदी की कहानी है, जिसे वर्षों इस किले की कालकोठरी में रहना पड़ा था। अंगरेज कवि बायरन के हृदय से निकले हुए उद्गार ने 'चिलो के कैदी' और साथ ही चिलों के किले को अमरत्व प्रदान कर दिया है। इसीलिये यह प्राचीन स्थान आज राजनीतिक मुक्ति चाहनेवालों के लिए तीर्थ-स्वरूप हो रहा है और इसका यशः सौरभ ससार भर में फैल रहा है।

इस किले में स्वतंत्रता के कितने भक्त कैदी रह चुके हैं—कितनों की जीवन-लीला इसी की काल-कोठरियों में समाप्त हो चुकी है, यह बताना कठिन क्या असम्भव है। पर एक कैदी—बोनीवार्ड की कहानी लोग इतने वर्षों से कहते-सुनते चले आते हैं और बायरन की कविता का विषय उसी एक का कारावास है। बायरन ने यह कविता सौ से कुछ अधिक वर्ष पहले लिखी थी। इस बीच में ऐतिहासिक गवेषणा से उसकी कविता का कुछ अंश निर्मूल सिद्ध हो गया है। पर फिर भी उसमें यथेष्ट

ऐतिहासिकता है और कविता के आरम्भ में तो जो चतुर्दशपदी है उसका दाम चौदह लाख भी थोड़ा है ।

इस किले की नींव कब और किसके द्वारा पड़ी, यह अभी तक निश्चित नहीं हो पाया । पर इतना निश्चित है कि आज से कम-से-कम हजार वर्ष पहले, इस किले का कुछ अंश कैदखाने के तौर पर वरना जाता था । इस समय हम इसे जिस रूप में देखते हैं वह इसे तेरहवीं सदी में प्राप्त हुआ था । उस समय चिलो सवाय नामक प्रान्त के डचूक के अधिकार में आ गया था । पर यह चाहे जब बना हो और इसे चाहे जिसने बनाया हो, इसमें मन्देह नहीं कि यह जिस स्थान पर बना है उसकी समता आसानी से नहीं हो सकती । एक ओर तो इसकी दीवारें भील के पानी में खड़ी हैं, दूसरी ओर उनका हिम-मण्डित गिरि-शिखर से सान्निध्य का सम्बन्ध है । स्वच्छ गोपा भील मानो इसके पैर पखारती है और उत्तुंग गिरि-शृंग इसका पृष्ठपोषक है । वास्तव में किला कुछ चट्टानों के समूह पर बना हुआ है, और इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि प्राचीन समय में यह जय चाहता पाम की घाटी से लोगों का आना-जाना बिल्कुल बन्द कर देता । सुन्दरता के बीच भयकरता का मूर्तिमान् उदाहरण यह चिलों का किला है । इसलिए यहाँ की दृश्यावली देखकर मनुष्य की “हारिणा प्रसम हृतः” की-सी अवस्था हो जाती है, पर यहाँ का इतिहास स्मरण कर उसे रोमांच हो आता है, यद्यपि अन्त में इन सब भावों के स्थान पर केवल यह उल्लास रह जाता है कि ऐसे किले की काल कोठरियों में बन्द किए जाने और वहाँ बरसों बेरहमी से सताये जाने पर भी इन आधुनिक प्रह्लादों ने अपनी हठ न छोड़ी और उनके प्रेम या उत्साह की आग में उनके देश या जाति की स्वतंत्रता के मार्ग के कंटक एक-न-एक दिन भस्म ही हो गये ।

सोलहवीं सदी में सवाय के डचूक का जेनेवा पर आधिपत्य हो चला । बहुत दिनों से इस घराने की नजर भील के दक्षिण तट पर लगी हुई थी, यद्यपि उसके पैर इधर नहीं जम सके थे । जेनेवा निवासियों ने एक ओर

अपनी स्वतंत्रता खोई, दूसरी ओर इस पाप का दारुण फल भोगने लगे । कुछ समय के लिए ड्यूकशाही नादिरशाही की बराबरी में आ गई । जिन लोगो ने ड्यूक का विरोध किया था उनके साथ बेहद सख्ती की जाने लगी । कैद और कत्ल दोनों ही सजाओ का दौर-दौरा हो चला । कुछ समय के लिए जेनेवा में ऐसा आतंक फैल गया कि जान पड़ता था कि वहाँ ड्यूक का विरोध करने की किसी में हिम्मत न रही । पर यह आशका निर्मूल निकली । अपने नगर और प्रान्त की स्वतंत्रता के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेवाले वीर सैकड़ों की संख्या में निकल पड़े और अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए वे सब-के-सब इस बहादुरी से लड़े कि जेनेवा की तो बात ही क्या, ड्यूक के घराने को चिलो से भी सदा के लिए हाथ धोना पड़ा ।

जिस समय जेनेवा-निवासियों का यह आन्दोलन आरम्भ हुआ उस समय नगर से थोड़ी ही दूर पर किसी गिरजाघर में एक पदाधिकारी था, जिसका नाम बोनीवार्ड था । यह वास्तव में 'सवाय' प्रदेश का निवासी था और ड्यूक की सेना में भर्ती होकर चिलो आया था । बोनी-वार्ड की विद्वत्ता बढ़ी-चढ़ी थी, साथ ही वह बड़ा आदर्शवादी था । जब उसने देखा कि सत्य और न्याय जेनेवा निवासियों के पक्ष में हैं और ड्यूक की ओर से ही सारी ज्यादतियाँ हो रही हैं, तब उसने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और जेनेवा आकर ड्यूक के दिरोधी दल में सम्मिलित हो गया । इस आन्दोलन में बोनीवार्ड ने बड़ी कार्यक्षमता दिखायी । जेनेवा और इसके आस-पास के प्रदेशों का यह विश्वास हो चला था कि बिना आपस की एकता के, हम में से कोई न तो अपनी खोई हुई स्वाधीनता को फिर से पा सकता है, न अपनी बची-खुची स्वाधीनता की रक्षा कर सकता है । इसीलिये उन्होंने, एक दूसरे की सहायता करने के उद्देश्य से, अपना छोटा-मोटा सघ बनाया और इस एकता के बल के आधार पर ड्यूक का सामना करने की तैयारी करने लगे ।

विचारानुसार कुछ मूर्तियाँ ऐसी बनी, जिनकी भाव-भगी को देखकर यही प्रतीत होता था कि मोम में भी जान आ सकती है। महात्मा गांधी को रात में आपरेशन हो रहा था। लोकमान्य तिलक जेल में गीतारहस्य लिख रहे थे, श्रीमती सरोजनी नायडू का काँग्रेस के मंच से भाषण हो रहा था, श्रीनिवास शास्त्री जी जेनेवा के रणट्रसघ के दरवाजे पर खड़े कनाडा के प्रधान मंत्री से बातें कर रहे थे, दीनबन्धु एंड्रूज फिजी से लौटे हुए भारतवासियों के बीच मटियाबुर्ज में बैठे हुए थे, मौलाना शौकत अली दिल्ली की जामा मस्जिद की सीढ़ियों के ऊपर से इस्लाम के लिए खतरे की घटी बजा रहे थे। कहाँ तक गिनाऊँ? एक-से-एक आकर्षक मूर्ति थी और वैसा ही उसका कार्य-कलाप था।

सब कुछ साथ लेकर हम दोनों नैरोबी पहुँचे और वहीं से आरम्भ किया। प्रीतमदास विज्ञापनबाजी की कला खूब जानता था, इसलिए आरम्भ करते ही सफलता होने लगी। हिन्दुस्तानी मुहल्लों में धूम मच गयी। मेरी ड्यूटी दरवाजे पर रहती थी। टिकटों की बिक्री पर नजर रखना, आनेवालों का स्वागत करना, यह काम खासतौर से मेरे जिम्मे था। प्रीतमदास मूर्तियों का प्रदर्शन करता और प्रसंगानुकूल उनका परिचय देता जाता। यह काम वही कर सकता था। उर्दू और अँग्रेजी पर उसका असाधारण अधिकार था, पर गुजराती और तामिल भी वह काम चलाने लायक जानता था। मालूम नहीं कि इतनी भाषाएँ उसने कब और कैसे सीखी। अपने बोलने के ढंग से वह लोगों को कभी हँसाता, कभी रलाता था। हिज हाइनेस आगा खाँ की अस्वस्थता का दृश्य दिखाकर ओर अपनी व्यथा को प्रकट कर उसने एक खोजा-दर्शक को बेहोश-सा कर दिया था। पन्द्रह रोज में प्रायः डेढ़ हजार रुपये की बचत रही। मैंने सलाह दी कि सारी रकम बैंक में जमा कर दी जाय, पर प्रीतम ने मेरी बात काट दी। बोला—हिन्दुस्तानियों की पुरानी आदत नहीं छूटी। अजी पैसे से पैसा पकड़ा जाता है। धन कमाने का तरीका अमेरिकन व्यवसायियों से सीखो। कानेंगी, राकफेलर,

स्थानों का परिचय देता जाता है—“यहाँ बोनीवार्ड इतने वर्षों तक श्रृंखलाबद्ध रहा—यह देखिये, उसके पैरो से घिसे हुए पत्थर आपके पैरो के नीचे हैं। यहाँ फासी की सजा पानेवाले अपने जीवन की आखिरी रात बिताने थे और जो टूटी-फूटी बेहद रूखटी पत्थर की पटरी आपके सामने हैं वह उस रात उनके बिछावन का काम देती थी। यह यन्त्रणागार है। यह मूलीघर है। तब तक आप वायरन की मूर्ति के सामने पहुँच जाते हैं। यह उस अगरेज महाकवि की मूर्ति है जिसने प्रायः तीन सौ वर्ष बाद बोनीवार्ड की स्मृति में ऐसी कविता लिखी, जिसके कारण सारा ससार इस स्थान और इसके इतिहास से परिचित हो गया।” केवल रूम ही नहीं, और देशों में भी ऐसे लेखक, कवि या कार्यकर्ता हुए हैं, जो उच्च या धनाढ्य कुल के होते हुए भी विप्लववादी थे और जिनके हृदय में अपनी श्रेणी के लोगो के प्रति सहानुभूति का लेश भी न था। अगर सस्कार का प्रभाव पड़ता तो लार्ड वायरन बोनीवार्ड जैसे व्यक्तियों को ऐसी गीताजलि कभी समर्पण न करता और हम आज ऐसे स्थानों में उसका स्मारक न पाते। ऐसे महापुरुषों की वाणी या कृति से उनकी श्रेणी के लोगो के पाप का थोड़ा, बहुत प्रक्षालन अवश्य होता है। पर जो कुछ भयकरता है वह किले के इसी भाग में। सीढ़ियों से ऊपर उठते ही सारा दृश्य बदल जाता है। पहले आप न्यायालय में पहुँचते हैं, जहाँ वस्तुतः न्याय का गला घोटा जाता था। न मालूम इस न्यायालय की आज्ञा से कितने बेगुनाह मूली पर चढ़ा दिये गये, कितने यो ही कत्ल कर दिये गये और कितने उन कालकोठरियों में सड़ाकर मार डाले गये। पर करतूतें चाहे जितनी काली रही हो, देखने में यह स्थान, उन अन्धेरी गुफाओं की तुलना में, दूसरा ही लोक जान पड़ता है। इसके बाद किले के ऊपरी हिस्से में भी जो कमरे मिलते हैं उनकी सजावट भी किसी समय देखते ही बनती होगी। बहुत-से सामान जो उस समय डचूक या उनके अनुचरों द्वारा काम में लाये जाते थे, अपनी-अपनी जगह पर बड़ी हिफाजत से रखे हुए हैं। डचूक के सोने के कमरे में उनका पलंग

ज्यों का त्यों सुरक्षित है । रसोईघर में पुराने बर्तनों का खासा बड़ा सग्रह है । पास ही वह स्थान है जहाँ ड्यूक के सरदारों की सभा हुआ करती थी—अब उनके कुछ अस्त्र-शस्त्र और वेश-भूषा के सामान यहाँ दर्शकों की दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करते हैं । हाँ, इन सब के साथ किले में गिर्जाघर भी था । प्रति रविवार को वहाँ ड्यूक, सरदार तथा किले के कर्मचारी, सपरिवार एकत्र होकर सामूहिक पूजा-प्रार्थना में सम्मिलित होते थे ? क्या ही वैषम्य था । ऊपर की दुनिया में आमोद-प्रमोद, नाच-रग, शराब-कबाब और धार्मिकता का वह अभिनय और नीचे की दुनिया में यन्त्रणाओं के नित नये संस्करण, अन्याय और अत्याचार की चक्की में इतने बेगुनाहों का पिसना, कहीं कुछ कमजोर दिलों का कराहना, कहीं वीर आत्माओं का हँसते-हँसते सूली पर चढ़ जाना । ऐसे ही स्थान में सत्य और स्वतंत्रता का साथ देने वाले बोनीवार्ड ने, पिजरे में बन्द शेर की तरह, अपने जीवन के छः वर्ष बिताये । इस बीच में किले की चहारदीवारी के बाहर भी बहुत से पत्थर घिस चले थे । अस्तु ।

छः वर्ष बाद जेनेवा के भाग्य ने पलटा खाया और वहाँ स्वतंत्रता का झंडा फिर फहराने लगा । पर जेनेवा-निवासी इतने से ही सन्तुष्ट न हुए । वर्न और जेनेवा की सम्मिलित सेना ने चिलो पर चढ़ाई कर दी । दो दिन तक ड्यूक की फौजों ने किसी प्रकार सामना किया, पर जब उसने देख लिया कि जीत की आशा दुराशामात्र है, तब उसने आत्म-समर्पण कर दिया । इस प्रकार ड्यूक के घराने को अन्त में लेने के देने पड़े । किले में प्रवेश करते ही जेनेवा-निवासियों के नेता बोनीवार्ड की कालकोठरी की ओर दौड़ पड़े और उसके पास पहुँचते ही हर्ष और अधीरता से चिल्ला उठे—“बोनीवार्ड ! तू अब स्वतंत्र है ।” पर बोनीवार्ड को इससे सन्तोष न हुआ, क्योंकि उसे वह समाचार नहीं मिला था, जिसे सुनने को वह अधीर था । उसने पूछा, “और जेनेवा ?” उत्तर मिला कि “जेनेवा भी स्वतंत्र है ।” जिस जजीर से बोनीवार्ड बँधा हुआ था

वह तोड़ दी गई और विजयी सेना बड़े सम्मान के साथ उसे अपने स्थान पर ले गई। चलने के समय बोनीवार्ड की आँखों से आँसू बह चले। काल-कोठरी से उसे इतना प्रेम हो गया था कि उसे छोड़ते समय बोनीवार्ड वियोग-दुःख अनुभव करने लगा। कहते हैं कि कुछ काल तक उसे प्रकाश भी अच्छा नहीं लगता था, बल्कि उसकी आँखों को उससे कष्ट-सा होता था।

इसके बाद भी चिलो इतिहास के रंगमंच पर कई बार आता है, पर हम उससे यही विदा ग्रहण करते हैं। हम भारतवासियों को चिलों का कैदी क्या उपदेश देता है इसका निर्णय भी हमारे पाठक ही कर लें। यूरोप या अमेरिका के इतिहास से कोई शिक्षा मिलती है तो यही कि आजादी की कीमत पाई-पाई चुकाये बिना कोई उसे पा नहीं सकता। भारत पहले आत्मत्याग की भूमि बन ले, फिर वह स्वाधीनता की निवास-भूमि बन सकेगा।

(सरस्वती, नवम्बर, १९२३)

जर्मनी की शक्ति उपासना

औद्योगिक उन्नति के लिये कोयला, तेल, पानी जैसे पदार्थ अनिवार्य हैं, क्योंकि कल-पुरजों को चलाने वाली ताकत इन्हीं से मिल सकती है। इनमें पानी साधारणतः भाप के रूप में संचालन करता है पर अवस्था विशेष में यह काम उसके प्रवाह में ही लिया जाता है। पनचक्की की याद कीजिए वहाँ पानी अपना रूप नहीं बदलता। वह ऊपर से गिरकर चक्की को चलाता है। विज्ञान की सहायता से पनचक्की अब कुछ की कुछ हो चली है। उसने आधुनिक Turbine का रूप धारण कर लिया है और खुद नाचती हुई ससार को नहीं तो उसके बहुत बड़े भाग को नचा रही है। यह चक्की भी पानी के जोर से चलती है और अपनी ताकत उन यंत्रों को दे देती है, जो बिजली बनाकर उसे सैकड़ों कोस दूर भेज सकते हैं और तरह-तरह के उद्योग-धंधों की सफलता में सहायक हो सकते हैं। जर्मनी के जिस नगर से यह लेख भेज रहा हूँ उसका औद्योगिक जीवन कुछ ऐसी ही आधुनिक पनचक्कियों पर निर्भर है। एक छोटी सी पहाड़ी नदी के जल का उपयोग कर चक्कियों को नचाया जाता और बिजली पैदा की जाती है। वही बिजली यहाँ पहुँचकर एक नहीं अनेक प्रकार से नागरिकों की सेवा करती है। कोयला यहाँ महँगा पड़ता है, अगर यह बिजली प्राप्त न होती तो लोगों को आर्थिक क्षेत्र में उसका भारी बोझ उठाना पड़ता। विज्ञान की बलिहारी है। नदी के स्रोत को थोड़े समय के लिये अपना दास बनाकर मनुष्य उससे चक्की चलाता है और फिर उस ताकत को एक बर्तन में बन्द कर के अपने पास रख लेता है। जब चाहो, जहाँ चाहो, जिस काम के लिये चाहो, वह ताकत हाजिर है। संध्या समय में जलदेवता को स्मरण कर के कहता हूँ कि

नमसो मा ज्योतिर्गमय और विजली का बटन दबाते ही अन्धकार की जगह प्रकाश फैल जाता है। प्रातःकाल हजारों नर-नारी रोटी के प्रश्न को याद कर उसी शक्ति से यह प्रार्थना करते हैं कि 'मृत्योर्माश्मृतोगमय' और बात-की-बात में सैकड़ों छोटे-बड़े कारखाने एक इशारा पाते ही चलने लगते हैं। इस शहर में कोई भूखो नहीं मरता। विजली काफी सस्ती है, इसलिए गृह शिल्प भी उन्नत अवस्था में है। हर तरफ सफाई है, रोशनी है, रौनक है। और भी कारण है, पर इसका बहुत कुछ श्रेय उस नचालक शक्ति को, उस सुदर्शन चक्र को है जो जल के आघात से खुद चलता और फिर दूसरों को चलाता है।

बर्लिन में एक सस्था है जो सारे देश की जलसमस्या से सम्बन्ध रखती है। जर्मनी में जल के वैज्ञानिक उपयोग से वाणिज्य की कितनी उन्नति हो सकती है इस प्रश्न का अनुसंधान करना इसका मुख्य उद्देश्य है। पर इससे और भी कितने ही प्रश्न सम्बद्ध हैं। पानी के दूसरे हकदार भी हैं मसलन किसान। जहाँ किसी तरह का समझौता जरूरी है वहाँ उसकी सूरत क्या होनी चाहिए, फिर उसको कानून का रूप दिलाने के लिये किस तरह आगे बढ़ना चाहिये इत्यादि जटिल विषय भी इस समस्या के आगे आते रहते हैं। इसके उद्योग से जर्मनी में बहुत कुछ काम हुआ है और हो रहा है। पर इतनी उन्नति होने पर भी, दिल्ली कोसों दूर है। पानी में जितनी विजली आज प्राप्त हो रही है उसे प्राप्य शक्ति का सप्तमांश समझिए।

पर यह संभव नहीं कि सारी समस्याएँ इसी विजली से हल हो सकें। इसलिये जर्मनी को दूसरी दिशाओं में भी अनुसन्धान करना पड़ा है।

इस देश में तेल की खानें नहीं; इसके पास ऐसा कोई उपनिवेश भी नहीं जहाँ तेल की बहुतायत हो। इसलिए आजकल यह कृत्रिम तेल के व्यवसाय की उन्नति की ओर विशेष दत्तचित्त है। यह तेल या पेट्रोल-कोयले से निकाला जाता है। और देशों ने भी इस ओर ध्यान दिया है पर जर्मनी

के लिये यह प्रश्न जो महत्व रखता है वह औरो के लिये नहीं। इसलिये यहाँ की सरकार खास तौर से इस व्यवसाय की पृष्ठपोषकता कर रही है। आजकल मोटरो के लिये यहाँ कोने-कोने में जो तेल बिकता है वह एक मिश्रण है जिसमें प्रायः आधा तो साधारण पेट्रोल और आधा यह कृत्रिम रहता है। अभी 'कृत्रिम' का व्यवसाय प्रारम्भिक अवस्था में है, इसलिये इसका दाम कुछ महँगा पड़ता है। ज्यों-ज्यों उन्नति होती जायगी दाम गिरता जायगा। सब लोग उसकी तारीफ करते हैं और साधारण पेट्रोल से उसे विशेष उपयोगी बताते हैं।

उन्नति की दूसरी दिशा है लकड़ी के गैस से चलनेवाली गाड़ियों की सख्यावृद्धि।

लकड़ी ऐसी चाहिये जो आग में पड़ते ही भस्मीभूत होनेवाली न हो। अर्थात् जिससे कोयला प्राप्त हो सकता हो। लकड़ी से लकड़ी का कोयला अच्छा काम देता है। अगर गीली नहीं है तो लकड़ी कोई भी हो सकती है।

मोटर पर एक गैस-उत्पादक यन्त्र रहता है। उसे एक तरह का चूल्हा समझिए। नीचे लकड़ी का कोयला बिछाकर ऊपर लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़ों का ढेर लगा देते हैं। फिर चूल्हा बन्द कर दिया जाता है और कोयले में आग लगा दी जाती है। पहले एक Vacuum तैयार हो जाता है और उससे हवा या भाप जाकर गैस से मिल जाती है। हवा से मिलने पर गैस जलने लायक बन जाती है और फिर मोटर में पहुँच कर अपना काम करती है।

मोटरों में विशेषतः मोटर बसों में पेट्रोल की जगह इस गैस का उपयोग होने लगा है। फिर भी अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इसे सफलता प्राप्त हो चुकी। गैस के व्यवहार से कई असुविधाएँ होती हैं:—

(१) मोटर तब तक 'स्टार्ट' नहीं हो सकती जब तक कि गैस जलने लायक न बन जाय।

- (२) मोटर को गैस-जेनरेटर (उत्पादक यन्त्र) का भी बोझ उठाना पड़ता है ।
- (३) पेट्रोल से लकड़ी या लकड़ी का कोयला भारी होता है ।
- (४) गाड़ी उतनी साफ सुथरी नहीं रह सकती ।
- (५) अगर रास्ते में लकड़ी या कोयला मिलने की सूरत न हो तो काफी 'स्टॉक' लाद कर चलना पड़ता है ।

मगर यहाँ भी प्रारम्भिक अवस्था है, और इन असुविधाओं को दूर करने के लिये भरपूर चेष्टा की जा रही है ।

इस समय भी, चलने-फिरने को छोड़ कर और कामों के लिये यह गैस जेनरेटर बड़ी सस्ती और उपयोगी चीज है । जगल में तो यह हर ओर मगल कर सकता है । १० घण्टे की ताकत की (स्थावर) मोटर को चलाने में जहाँ पेट्रोल का खर्च जर्मनी में फी घंटा १.७० मार्क पड़ता है वहाँ लकड़ी गैस का खर्च पड़ता है कुल ७० मार्क अर्थात् फी घंटा एक मार्क की बचत । पेट्रोल की कीमत करीब दो रुपये गैलन समझिये ।

जगल में जहाँ मशीन का व्यवहार आवश्यक हो वहाँ जरूर हिसाब लगाकर देखना चाहिए कि लकड़ी की गैस से कितनी बचत हो सकती है । यही बात खेती से सबध रखनेवाली मशीनों के विषय में भी कही जा सकती है । विशेषज्ञों का कहना है कि गैस जेनरेटर काफी तरक्की कर चुका है और दिन-दिन इसमें सुधार होता जा रहा है । जर्मनी जी-जान से इस कोशिश में है कि वह अपनी औद्योगिक सफलता के लिये हर तरह की शक्ति का उपयोग कर सके, और परीक्षा के समय बिना दूसरे देशों का मुह ताकें स्वावलम्बी बन सके ।

('हिन्दुस्तान' से)

उदारता

मेरे कई मित्रों का विश्वास है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष जैसे और बातों में बड़ा-चढ़ा था, वैसे ही उदारता में भी बेमिसाल था। बत्तीस अक्षरों को अनुष्टुप् के साँचे में ढाल देने से ही लाखों रूपए भोली में बरस जाते थे। यह कैफियत थी कि माँगा और मिला, बल्कि ऐसे दानी भी बहुतेरे थे, जो माँगने से पहले ही मुट्ठी खोल देते थे। दानपत्र की प्राप्ति के लिए आजकल की तरह धनिकों को दानपत्र देने की आवश्यकता न होती थी; अपने प्राचीन साहित्य में इस आडम्बर का उल्लेख तक नहीं मिलता। दानपात्रों की कमी भले ही रही हो, दानपत्रों की न थी। जो लोग पुरातत्त्व-प्रेमी समझे जाते हैं, उनसे पूछिए कि ऐसे दानपत्र अब तक कितने मिल चुके। हजारों मन ताँवा हर साल इसी काम में लगता था।

पर आजकल क्या हाल है? वर्तमान से जिनका थोड़ा-बहुत भी परिचय है, वे अच्छी तरह जानते हैं कि संसार में सबसे दुर्लभ पदार्थ उदारता है। नौकरी करनेवालों में कुछ बड़े भाग्यवान होते हैं। सर बी० एन० मित्र ने साधारण 'बंगाली बाबू' के रूप में भारत-सरकार की सेवा आरम्भ की थी। वकालत और डाक्टरी से कुछ लोग अपने देश में भी मालामाल हो गए हैं। पर इस दायरे के बाहर क्या हाल है? कविता की सरिता सूख गई हो, यह बात नहीं है। नख-शिख की कौन कहे, छायामात्र पर कविताएँ हो रही हैं, और वह भी इस जोर-शोर से कि हिन्दी में आजकल कवि कहने से केवल छायावादी का बोध होता है। छन्दों से मौलिकता का ऐसा प्याला छलकता है और वे इतने विशिष्ट होते हैं कि उनके आगे अनुष्टुप् को अच्छूत कहते बहुत कम

लोगो को सकोच होगा। पर दान के द्वारा गुणग्राहकता दिखानेवाले कहाँ हैं ?

क्या भोज या रहीम खानखाना हमारे किसी भी आधुनिक कवि को नसीब हुए हैं ? किसी पत्र के सम्पादक या मैनेजिंग-एडिटर के पास इस आशय की चिट्ठी कभी आई है कि “महोदय, गत अक में आपने ‘आह’-शीर्षक जो चार पक्तियों की छोटी-सी कविता प्रकाशित की है, उसका यथेष्ट पुरस्कार देने के लिए किसी के पास धन नहीं हो सकता। फिर भी अपने अर्घ्य के रूप में चार लाख का एक चेक आपकी सेवा में भेजता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि इसे कविवर के पास पहुँचाकर मुझे कृतकृत्य करेंगे। मेरा नाम-धाम प्रकाशित करना मेरी इच्छा के विरुद्ध होगा”।

लोग कह देते हैं कि जमाना बदल गया। अर्थात् पहले इस देश की सुख-समृद्धि का वारापार न था, इसलिए भोज या रहीम का उतना उदार होना कुछ भी आश्चर्यजनक न था। अब देश दरिद्रातिदरिद्र हो रहा है। फिर यहाँ दान-वीरता कैसे नजर आ सकती है ! मैं इस तर्क का कायल नहीं हूँ। किसी भी बात को मानने के लिए मैं प्रमाण देखना चाहता हूँ। उदारता के सम्बन्ध में प्राचीन भारत की ओर से जो कुछ कहा जाता है, उसकी असलियत क्या है—इसकी छान-बीन किए बिना मैं अर्वाचीन भारत के विरुद्ध कुछ नहीं कह सकता। बाबावाक्यं प्रमाण—इस सिद्धान्त से तो अब कट्टर-से-कट्टर सनातनधर्मी का भी काम नहीं चलता।

जो दानपत्र मिल चुके हैं, उनके विषय में ही मुझे सबसे पहले दो शब्द कहने हैं। मैं इनमें से अधिकांश को जाली समझता हूँ। इनकी रचना अधिकारियों की आँखों में धूल भोंकने के लिये की गई है। कम-से-कम बंगाल और बिहार के सम्बन्ध में यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि पलासी और बक्सर की लड़ाइयों के बाद ऐसे हजारों दानपत्र बुछ ही दिनों में तैयार हो गए और उन्हीं के बल पर कुछ लोगों ने

लाखों एकड़ ज़मीन हड़प ली । अगरेज कर्मचारी उन्हें सब से अधिक प्रामाणिक मानते थे—और जिसने ताँबे के पत्र पर कुछ भी खुदा हुआ दिखाया, उसे सफल-मनोरथ कर देते थे । इन्ही कर्मचारियों में से—विकास-सिद्धान्त के अनुसार—पुरातत्त्व-प्रेमी भी निकल पड़े । जोस, कोलब्रुक, प्रिसेप, स्मिथ—उदाहरण के लिए ये थोड़े-से नाम पेश किए जाते हैं । इन्होंने जहाँ-तहाँ यह घोषणा कर दी कि ऐसे दानपत्र लानेवाले को मुहमाँगा इनाम मिलेगा । अभाव न तो ताँबे का था, न सस्कृत में ऐसे पत्रों की रचना करनेवालों का । लोग ताँवा लाए और चाँदी ले गए । उन दानपत्रों के आधार पर भारतवर्ष का जो इतिहास लिखा गया है या लिखा जानेवाला है, उसकी बात मैं यहाँ नहीं करता । पर मैं पूछता हूँ कि प्राचीन भारतवर्ष की उदारता के प्रमाणस्वरूप इन ताम्रपत्रों का मूल्य क्या है ? प्रत्येक मनुष्य पर कोई-न-कोई सनक सवार होती है । पुरातत्त्व-प्रेमियों या इतिहासकारों का भी यही हाल है ।

प्राचीन साहित्य से भी वैसी उदारता की पुष्टि नहीं होती । वैदिक ऋचाओं की रचना के समय तो पैसा था ही नहीं, इसलिए उनका हवाला देना व्यर्थ है । राजा जनक ने एक हजार गाएँ लाकर उनके एक-एक सींग में दस-दस स्वर्णमुद्राएँ बाँधकर भरी सभा में कभी जरूर कहा था—“ब्राह्मणो ! आप में जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी हों, वही इन स्वर्ण-मुद्राओं-सहित एक हजार गायों को ले जायँ ।” पर यह उनकी उदारता थी या भेदनीति ? भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालनेवालों ने यह सिद्ध-सा कर दिया है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की आपस में कभी नहीं बनी । एक दूसरे को दबाने की चेष्टा से कभी बाज न आए । जनक स्वयं तत्त्वज्ञानी होने का दावा करते थे । उधर ब्राह्मण इस क्षेत्र पर अपना एकाधिपत्य चाहते थे । जनक ने सोचा होगा कि बिना भेदनीति का अवलम्बन किए अपनी तूती न बोल सकेगी, इसलिए दान के साथ वैसी शर्त लगा दी । इसका नतीजा क्या हुआ, यह कुछ-कुछ उपनिषदों से जाना जा सकता है । याज्ञवल्क्य बड़े ज्ञानी

माने जाते थे, पर जनक ने इन गायों का प्रलोभन देकर उनकी प्रतिष्ठा मिट्टी में मिला दी। वह भट गायों को अपने घर ले जाने के लिए तैयार हो गए। दूसरे ब्राह्मणों से यह न देखा गया और अश्वल, उद्दालक आदि ने वही उनपर प्रश्नों की बौछार शुरू कर दी। गार्गी नाम की विदुषी ने तो उन्हें जटिल प्रश्नों के जाल में ओत-प्रोत ही कर दिया ! जनक को इस दृश्य से, अपनी भेदनीति की सफलता से, जो आनन्द हुआ होगा, वह हम कल्पनशक्ति से अच्छी तरह जान सकते हैं। सुना जाता है कि भारतवर्ष के सीमान्त-प्रदेश में सरकार भी कभी-कभी जनक की कूटनीति का अनुकरण करती है। हजार-दो-हजार ऊँटों को एकत्र कर प्रत्येक की पूछ में सौ-सौ रुपये की थैली बाँध देती है और यह ऐलान कर देती है कि सरहद्दी काँमो में जो सबसे बहादुर हो, वह इन ऊँटों को ले जाय। बस महसूद, वजीरी और अफरीदी आपस में लड़ मरते हैं। उदारता न यह है, न वह थी।

भोज-प्रबन्ध ऐतिहासिक ग्रंथ नहीं है। उसके आधार पर यह मान लेना कि एक श्लोक के लिए दस लाख रुपये पुरस्कार देनेवाले इस देश में कभी होते थे, इस बीसवीं सदी में किसी को शोभा नहीं देता। भोज आखिर ऐसा अविवेकी न रहा होगा। 'प्रायो धनवतामेव धने तृष्णा गरीयसी' यह वाक्य भोज-प्रबन्ध का ही है। बिहारीलाल को सतसई के दोहों के लिए अशक्ति प्राप्त मिली थी—मुझे इसमें भी संदेह है। ध्यानपूर्वक उन दोहों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिहारीलाल का अर्थभाव बराबर बना ही रहा। ग्रंथ के आरम्भ में ही उन्होंने अपनी 'भव-बाधा' का जिक्र किया है और कुछ ही दूर आगे जाकर लिखा है कि 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु'—अर्थात् न तो सोना हाथ लगा न चाँदी। 'रे गन्धी मति-अन्व तू, अतर दिखावत काहि' कहकर तो उन्होंने अपना भाव उन लोगों के लिए भी स्पष्ट कर दिया है, जो अलंकारों से अनभिज्ञ होने के कारण, ऐसी बारीकियों को नहीं समझ सकते।

जो लोग इस समय भी इस लोक में लाख देकर परलोक में करोड़ पाने की आशा से, बड़ी-बड़ी रकमे दे डालते हैं, उन्हें मैं उदार नहीं कह सकता । यह तो एक प्रकार का व्यापार है । प्राकृतिक उदारता के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, और इस विषय में अतीत तथा वर्तमान दोनों एक-से हैं ।

साईं सब संसार में, मतलब का व्यवहार;
जब लग पैसा गांठ में, तब लग ताको यार ।
तब लग ताको यार, यार सँग ही सँग डोलें,
निर्धन भए उदार—यार मुख से नहिं बोलें !
कह गिरिधर कविराय, भली कंजूसी भाई,
दे बेगरजी दान, मान मत लीजौ साईं !

पंक्ति-पुष्पाञ्जलि

विद्यार्थियों के परम हितैषी और 'विद्यार्थी' के जन्मदाता पंडित रामजीलाल शर्मा के असामयिक—अभी आपकी अवस्था पचास के ही लगभग थी—शरीरावसान का समाचार सुनकर किस हिन्दी-प्रेमी को मम्मन्तिक दुःख न हुआ होगा ? इस पत्र के पाठकों को तो यह जान पड़ता होगा कि उन्होंने अपना एक आत्मीय खो दिया है, अपने कुटुम्ब के ही एक नर-रत्न से हाथ धो बैठे हैं। वास्तव में 'विद्यार्थी'जगत् के बाहर भी बहुत से लोग हैं जिनकी आँखों से आज आँसू जारी हैं। पंडित रामजीलाल का कार्य-क्षेत्र विस्तृत था। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अलावा और कितनी ही सार्वजनिक सस्थाओं से उनका सेव्य-सेवक का सम्बन्ध था, इसलिए उनके निधन से जो स्थान रिक्त हुआ है उसकी पूर्ति सहज ही सम्भव नहीं। ऐसे कर्मनिष्ठ सेवक को खोकर कौन-सी मस्था शोकाकुल न होगी ? पर मेरी तरह ऐसे भी कितने ही हिन्दी-प्रेमी होंगे जिन्हें उनकी मित्रता का अभिमान था और जिन्हें उनके स्नेह की स्मृति में आज नेत्र-गगा में नहाना पड़ रहा है।

आज से प्रायः १४ वर्ष पूर्व मैंने इलाहाबाद में अपने कुछ सहपाठियों के साथ, पंडितजी के प्रथम दर्शन किये थे। किसी आर्य्य-कन्या-पाठशाला के आप मंत्री थे और उसके वार्षिकोत्सव में यह सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस दिन सभापति 'लीडर' सम्पादक मि० चिन्तामणि थे। आप तत्कालीन कर्तव्य के पालन के साथ कुछ जरूरी प्रूफ भी पढ़ते जाते थे। पण्डितजी का 'सीता-चरित्र' मैं पढ़ चुका था और आज के उत्सव में उनकी सेवा-वृत्ति का परिचय पाकर उनके प्रति मेरी श्रद्धा और भी बढ़ गई।

इलाहाबाद छोड़ने के कई बरस बाद उनसे फिर मिलने का
कु० १४

सौभाग्य कलकत्ते में प्राप्त हुआ । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए कुछ धन-संग्रह करने को आप वहाँ पधारे थे । साथ में पंडित पद्मसिंह जी शर्मा भी थे । 'माधो-भवन' में ठहरे थे । वह स्थान कुछ समय के लिए साहित्य-रसिकों का तीर्थ-सा बन गया था । डेपूटेशन के रूप में आप लोग धनियों के दरवाजे खटखटाते फिरते थे और अपने असली रूप में साहित्य-चर्चा किया करते थे । जिन लोगों का वहाँ एकत्र होने का नियम-न्सा हो गया था उनमें श्री राधामोहन गोकुल जी और श्री० ईश्वरी प्रसाद वर्मा भी थे । पंडित पद्मसिंहजी 'बायरन' की कविता सुनते थे, "राधेजी" बोल्शेविज्म की व्याख्या करते थे और वर्मा जी पेन्सिल से कागज के टुकड़े पर व्याख्यानदाता महोदय के ऐसे चित्र तैयार करते थे कि देखनेवालों की हँसी रोकें न रुकती थी । सभापति का काम पंडित रामजी लाल शर्मा करते थे, पर जैसे चिन्तामणि को वहाँ प्रूफ पढ़ते देखा था वैसे ही शर्माजी को वहाँ डेपूटेशन का काम करते देखता था ! "राधेजी" पूजीपतियों को खरी-खोटी सुना रहे हैं और वर्मा जी उनकी भावभंगी का चित्र उतारने में लगे हुए हैं कि सभापति जी ने अधिवेशन स्थगित कर दिया और किसी पूजीपति को सम्मेलन के कार्य का महत्त्व समझाने और उससे कुछ रकम लेने के लिए चल पड़े । 'बायरन' भी बन्द करना पड़ा और पंडित पद्मसिंह जी को भिक्षाटन के लिए साथ होना पड़ा । अस्तु, पण्डित अम्बिकाप्रसाद जी वाजपेयी, बाबू मूलचन्द जी अग्रवाल, अवकाश रहा तो डेपूटेशन का परिचय प्रदान करने के लिए पकड़ लिये गये—नहीं तो दोनों 'शर्मा जी' ही किसी धनी के यहाँ जा पहुँचे और कभी कुछ लेकर, कभी खाली हाथ लौट आये ।

मुझे ठीक स्मरण नहीं, शर्मा जी सम्मेलन के लिए कितना धन संग्रह कर सके थे । पर कलकत्ते में उस समय भी व्यापार की दशा सन्तोषजनक नहीं थी और बाहर से दूसरे डेपूटेशन भी आ चुके थे या आनेवाले थे । ऐसी परिस्थिति में धन-संग्रह के कार्य में सफलता प्राप्त करना

अत्यन्त कठिन था । पर पण्डित रामजीलाल शर्मा निराश होनेवाले न थे । उद्योग और धीरज की उनमें कमी न थी । एकाध बार तो ऐसा हुआ कि जहाँ एक पैसा मिलने की भी आशा न थी, वहाँ से ५००) का चेक लेकर लौटे ।

विद्यार्थियों को ऐसे विशिष्ट पुरुषों के जीवन-चरित से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि मनुष्य धैर्य और अध्यवसाय से बहुत बड़े काम कर सकता है । पण्डित रामजीलाल शर्मा ने जिस समय कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था, उस समय उनकी अवस्था कैसी थी और उन्होंने कहाँ तक उन्नति करली इस विषय पर, आशा है, दूसरे सज्जन प्रकाश डालेंगे । पर उनके चरित्र का विश्लेषण करने पर उनमें कुछ ऐसे गुण अवश्य मिलेंगे जिनकी आकर्षण-शक्ति से सफलता मनुष्य के पास आप ही खिच कर चली आती है । ऐसे गुणों को अपनाना इस पत्र के प्रत्येक पाठक का—नही प्रत्येक नवयुवक का लक्ष्य होना चाहिए ।

मेरा विशेष आग्रह यह है कि हम उनकी चरित-चर्चा से परोप-कारिता सीखें और हमसे जहाँ तक बन पड़े हम अपने भाइयों की भलाई करने को प्रस्तुत रहे । शर्मा जी के पास खाने-पीने के लिए काफी था, फिर उन्हें क्या पड़ी थी कि कलकत्ते जाकर दर-दर भीख माँगते, कुछ लोगों के कटुवचन सुनते और कुछ से अपमानित भी होते ? यह सब उन्होंने इसलिए किया कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कुछ लाभ हो । इस यात्रा में उनको और श्रद्धेय पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा को शारीरिक तथा मानसिक कष्ट कुछ कम न हुआ, पर 'सन्त संहिं दुख पर-हित-लागी' इसलिए इन लोगों ने जो कुछ किया स्वभावानुसार ही किया ।

जहाँ तक याद पड़ता है मैंने शर्मा जी को अन्तिम बार मुजफ्फरपुर में देखा था—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था और पण्डित पद्मसिंह जी सभापति थे । अपने भाषण के आरम्भ में कुछ साहित्यसेवी बन्धुओं के वियोग की चर्चा करते हुए पण्डित जी रो पड़े थे और सारी सभा को रुला दिया था । पण्डित रामजीलाल शर्मा जैसे मित्र के वियोग

सौभाग्य कलकत्ते में प्राप्त हुआ । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के लिए कुछ धन-संग्रह करने को आप वहाँ पधारे थे । साथ में पंडित पद्मसिंह जी शर्मा भी थे । 'माधो-भवन' में ठहरे थे । वह स्थान कुछ समय के लिए साहित्य-रसिकों का तीर्थ-सा बन गया था । डेपूटेशन के रूप में आप लोग धनियों के दरवाजे खटखटाते फिरते थे और अपने असली रूप में साहित्य-चर्चा किया करते थे । जिन लोगों का वहाँ एकत्र होने का नियम-न्सा हो गया था उनमें श्री राधामोहन गोकुल जी और श्री० ईश्वरी प्रसाद वर्मा भी थे । पंडित पद्मसिंहजी 'बायरन' की कविता सुनते थे, "राधेजी" वोल्शेविज्म की व्याख्या करते थे और वर्मा जी पेन्सिल से कागज के टुकड़े पर व्याख्यानदाता महोदय के ऐसे चित्र तैयार करते थे कि देखनेवालों की हँसी रोकें न सकती थी । सभापति का काम पंडित रामजी लाल शर्मा करते थे, पर जैसे चिन्तामणि को वहाँ प्रूफ पढ़ते देखा था वैसे ही शर्माजी को यहाँ डेपूटेशन का काम करते देखता था ! "राधे जी" पूजीपतियों को खरी-खोटी सुना रहे हैं और वर्मा जी उनकी भावभंगी का चित्र उतारने में लगे हुए हैं कि सभापति जी ने अधिवेशन स्थगित कर दिया और किसी पूजीपति को सम्मेलन के कार्य का महत्त्व समझाने और उससे कुछ रकम लेने के लिए चल पड़े । 'बायरन' भी बन्द करना पड़ा और पंडित पद्मसिंह जी को भिक्षाटन के लिए साथ होना पड़ा । अस्तु, पण्डित अम्बिकाप्रसाद जी बाजपेयी, बाबू मूलचन्द जी अग्रवाल, अवकाश रहा तो डेपूटेशन का परिचय प्रदान करने के लिए पकड़ लिये गये—नहीं तो दोनों 'शर्मा जी' ही किसी धनी के यहाँ जा पहुँचे और कभी कुछ लेकर, कभी खाली हाथ लौट आये ।

मुझे ठीक स्मरण नहीं, शर्मा जी सम्मेलन के लिए कितना धन संग्रह कर सके थे । पर कलकत्ते में उस समय भी व्यापार की दशा सन्तोषजनक न थी और बाहर से दूसरे डेपूटेशन भी आ चुके थे या आनेवाले थे । ऐसी परिस्थिति में धन-संग्रह के कार्य में सफलता प्राप्त करना

अत्यन्त कठिन था । पर पण्डित रामजीलाल शर्मा निराश होनेवाले न थे । उद्योग और धीरज की उनमें कमी न थी । एकाध बार तो ऐसा हुआ कि जहाँ एक पैसा मिलने की भी आशा न थी, वहाँ से ५००) का चेक लेकर लौटे ।

विद्यार्थियों को ऐसे विशिष्ट पुरुषों के जीवन-चरित से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि मनुष्य धैर्य और अध्यवसाय से बहुत बड़े काम कर सकता है । पण्डित रामजीलाल शर्मा ने जिस समय कार्य-क्षेत्र में प्रवेश किया था, उस समय उनकी अवस्था कैसी थी और उन्होंने कहाँ तक उन्नति करली इस विषय पर, आशा है, दूसरे सज्जन प्रकाश डालेंगे । पर उनके चरित्र का विश्लेषण करने पर उनमें कुछ ऐसे गुण अवश्य मिलेंगे जिनकी आकर्षण-शक्ति से सफलता मनुष्य के पास आप ही खिच कर चली आती है । ऐसे गुणों को अपनाना इस पत्र के प्रत्येक पाठक का—नही प्रत्येक नवयुवक का लक्ष्य होना चाहिए ।

मेरा विशेष आग्रह यह है कि हम उनकी चरित-चर्चा से परोपकारिता सीखें और हमसे जहाँ तक बन पड़े हम अपने भाइयों की भलाई करने को प्रस्तुत रहे । शर्मा जी के पास खाने-पीने के लिए काफी था, फिर उन्हें क्या पड़ी थी कि कलकत्ते जाकर दर-दर भीख माँगते, कुछ लोगों के कटुवचन सुनते और कुछ से अपमानित भी होते ? यह सब उन्होंने इसलिए किया कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का कुछ लाभ हो । इस यात्रा में उनको और श्रद्धेय पण्डित पद्मसिंह जी शर्मा को शारीरिक तथा मानसिक कष्ट कुछ कम न हुआ, पर 'सन्त सहाहि दुख पर-हित-लागी' इसलिए इन लोगों ने जो कुछ किया स्वभावानुसार ही किया ।

जहाँ तक याद पड़ता है मैंने शर्मा जी को अन्तिम बार मुजफ्फरपुर में देखा था—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन था और पण्डित पद्मसिंह जी सभापति थे । अपने भाषण के आरम्भ में कुछ साहित्यसेवी बन्धुओं के वियोग की चर्चा करते हुए पण्डित जी रो पड़े थे और सारी सभा को रुला दिया था । पण्डित रामजीलाल शर्मा जैसे मित्र के वियोग

पर आज उनकी क्या दशा होगी यह मैं भली भाँति अनुमान कर सकता हूँ। पण्डित जी ने उस समय कहा था और आज भी कह सकते हैं कि—

“बहना कुछ अपनी चश्म का दस्तूर हो गया।

दी थी खुदा ने आँख सो नासूर हो गया !”

(विद्यार्थी, भाग १७, अंक ८ से)

मोम की मूर्तियाँ

कलकत्ते की वह कांग्रेस जिसके सभापति तीस या चालीस घोड़ों की गाड़ी पर बैठकर हुगुली पार हुए थे, बहुतों को मरते दम तक याद रहेगी। और मुझे-जैसे कितने ही लोग तो चेष्टा करने पर भी उस प्रदर्शनी को न भूल पायेंगे जो उस कांग्रेस-रूपी मोर की पूछ के समान थी। मुझे उसके सम्बन्ध में और सब कुछ याद है। मैं भूलता हूँ तो यही कि मैंने उसकी कितनी बार प्रदक्षिणा की और वहाँ क्या क्या खरीदा? पर उन बातों से इस कहानी का कोई सरोकार नहीं। इसका आरम्भ तो उस संयोग से होता है जिसने एक शर्बत की दुकान पर प्रीतमदास से मेरी जान-पहिचान करा दी।

आज भी जब वह दिन याद आता है, तब उस कांग्रेस को, उस नुमाइश को और अपने आपको सौ-सौ बार कोसता हूँ। क्लाइव स्ट्रीट की धूल माथे चढ़ाकर मैं तो यो ही लक्ष्मी का कृपापात्र हो रहा था, मुझे क्या पड़ी थी कि आनन-फानन लखपति बनने के लिए प्रीतमदास का साझीदार बन बैठा और उसके पीछे-पीछे घर का सारा आटा गीला कर अग्या। पर अब पछताने में होता ही क्या है? गाढ़े पसीने की कमाई के पूरे पाँच हजार रुपये से हाथ धो बैठा और प्रीतमदास आँसू पोछने के लिए भी पास नहीं है।

प्रीतमदास पजाबी था और लाहौर के किसी कालेज से बी० ए० पास करके न जाने कहाँ-कहाँ की खाक छान चुका था। गराब की लत उसे कहाँ लगी यह मैं नहीं कह सकता, पर उसका कहना था कि कनाडा जाने से पहले मैं यह भी न जानता था कि बीयर और ब्रैण्डी में क्या भेद है? बोलनेवाला वह अपनी तरह का एक ही था। मैं शपथपूर्वक कह सकता हूँ कि उसकी बातों में जादू का-सा असर था। जिससे जो

चाहता, करा लेता। वह लेखक भी था और अँग्रेजी में एक पुस्तक भी लिखी थी जिसकी बिक्री नहीं के बराबर हुई थी। मैं समझता हूँ कि उसने यह पुस्तक या तो बोटल खाली कर देने पर लिखी होगी या बोटल छूने से पहले। आधी मजिल तय कर चुकने पर वह जो कुछ लिखता, उसकी बिक्री हिन्दुस्तान में भी कम न होती।

इधर-उधर की दो एक बातें कर वह पूछ बैठ—बाल-बच्चों के लिए कुछ जमा किया है या नहीं ?

पाँच हजार रुपये कलकत्ता सेविंग्स बैंक में होते हुए भी मैंने यही कहा कि अभी तक तो नसीब ने साथ नहीं दिया, आगे की राम जाने।

प्रीतमदास—तो कुछ धन कमाने की इच्छा है ?

मैं—जरूर, किसे यह इच्छा न होगी।

प्रीतमदास—तो बस बहती गंगा में हाथ धो लो। पर खाली इच्छा से काम नहीं चलने का। पास कुछ पूजी भी होनी चाहिए। अगर मेरी ही तरह कुछ पूजी लगा सकते हो तो बेड़ा पार समझो।

मुझे उसकी बात पर विश्वास नहीं हुआ, पर मैं कुछ भी जवाब न दे सका। एक टक उसके मुह की ओर ताकने लगा। उसका रंग-ढंग, वेश-भूषा, सब यही कह रहे थे कि अगर चील के घोंसले में माँस हो सकता है तो प्रीतमदास के पास पूजी भी हो सकती है। पर उनकी बात उसने मुझे सुनने कहाँ दी ? कहने लगा बैरकपुर के रेंस में मैंने हाल ही में दो हजार कमाया है। स्कीम है, पूजी भी है। जरूरत तुम्हारे जैसे एक सख्स की है जो पूरा बनिया हो और पैसा सम्भाल सके। इंजिन का काम मैं कर लूँगा, पर जब तब ब्रेक लगाने के लिए तुम्हारी जरूरत पड़ेगी।

फिर उसने अपनी स्कीम कह सुनायी। उसके कहने का साराश यह था—इसी प्रदर्शनी में बम्बई प्रान्त का एक व्यवसायी भी मोम की कुछ ऐसी मूर्तियाँ लाया है कि उन्हें देखने के लिए लोग टूट पड़ते हैं। महात्मा गाँधी का जेल में जो आपरेशन हुआ, उसे इस खूबी से

दिखाया है कि देखनेवाले दंग रह जाते हैं। दूसरे नेताओं की भी मूर्तियाँ हैं, जिन्हें देखकर यही भ्रम होता है कि जो कुछ सामने है, वह हाड़-माँस है, मोम नहीं। अगर जगह-जगह घूमकर ऐसी ही मूर्तियों का प्रदर्शन किया जाय, तो लखपती होते देर न लगे। पर इस देश में नहीं। इस दरिद्र देश में पैसा कहाँ ? पैसा कमाना है, तो मेरे साथ अफ्रीका चलो। वहाँ छोटे छोटे शहरों में कितने ही सेठ साहूकार हैं जो चाहे तो तुम्हारे कलकत्ते के बड़ा बाजार और क्लाइव स्ट्रीट को खरीद ले। सोना वहाँ है, हीरे वहाँ हैं। तुम देखोगे कि वहाँ पैसे तो पानी की बूदों की तरह बरसते हैं।

मैं उसकी बातों में आ गया। उसकी जबान में ताकत ही ऐसी थी। मूर्तियों के विषय में हम दोनों की राय एक नहीं थी। प्रीतमदास का कहना था कि यूरोपियन और हबशी भी तमाशा देखने आयेंगे। इसलिए लोकमान्य तिलक या महात्मा गाँधी से ही काम न चलेगा। वह इस बात पर जोर देने लगा कि काँटों की शय्या पर सोनेवाले हिन्दू फकीर से लेकर नर्तक और नर्तकी की भी मूर्तियाँ होनी चाहिये। मैं अड़ गया। कह दिया कि अगर ऐसे दृश्य दिखाकर पैसे कमाना है तो तुमको और तुम्हारी स्कीम को सलाम है। मैं स्वामी श्रद्धानन्द जी की हत्या का दृश्य दिखाने के पक्ष में था, पर प्रीतमदास को इसमें आपत्ति थी। उसका कहना था कि अफ्रीका में बहुत से दर्शक बम्बई प्रान्त के खोजा-मुसलमान होंगे। पर अगर यह दृश्य दिखाया गया तो वे कभी न आवेंगे। अन्त में स्वामी जी की ऐसी मूर्ति रखना निश्चित हुआ जो पंजाब के मार्शल ला के दिनों की याद दिलानेवाली थी—शुद्धि या सगठन की नहीं। हिन्दुस्तानी फकीर, बाजीगर, सँपेरे को भी स्थान मिल गया। मुझे इसमें परम सन्तोष हुआ कि हम लोगों को इससे नीचे सिर झुकाना न पड़ा।

बम्बई में एक कारीगर से मूर्तियाँ तैयार करायी गयीं। मैं यह स्वीकार करूँगा कि प्रीतमदास की कल्पना-शक्ति ऊँचे दर्जे की थी। उसके

विचारानुसार कुछ मूर्तियाँ ऐसी बनी, जिनकी भाव-भगी को देखकर यही प्रतीत होता था कि मोम में भी जान आ सकती है। महात्मा गांधी को रात में आपरेशन हो रहा था। लोकमान्य तिलक जेल में गीतारहस्य लिख रहे थे, श्रीमती सरोजनी नायडू का काँग्रेस के मंच से भाषण हो रहा था, श्रीनिवास शास्त्री जी जेनेवा के रणट्रसघ के दरवाजे पर खड़े कनाडा के प्रधान मंत्री से बातें कर रहे थे, दीनबन्धु एंड्रूज फिजी से लौटे हुए भारतवासियों के बीच मटियाबुर्ज में बैठे हुए थे, मौलाना शौकत अली दिल्ली की जामा मस्जिद की सीढ़ियों के ऊपर से इस्लाम के लिए खतरे की घटी बजा रहे थे। कहाँ तक गिनाऊँ? एक-से-एक आकर्षक मूर्ति थी और वंसा ही उसका कार्य-कलाप था।

सब कुछ साथ लेकर हम दोनों नैरोबी पहुँचे और वही से आरम्भ किया। प्रीतमदास विज्ञापनबाजी की कला खूब जानता था, इसलिए आरम्भ करते ही सफलता होने लगी। हिन्दुस्तानी मुहल्लों में धूम मच गयी। मेरी डचूटी दरवाजे पर रहती थी। टिकटों की बिक्री पर नजर रखना, आनेवालों का स्वागत करना, यह काम खासतौर से मेरे जिम्मे था। प्रीतमदास मूर्तियों का प्रदर्शन करता और प्रसंगानुकूल उनका परिचय देता जाता। यह काम वही कर सकता था। उर्दू और अँग्रेजी पर उसका असाधारण अधिकार था, पर गुजराती और तामिल भी वह काम चलाने लायक जानता था। मालूम नहीं कि इतनी भाषाएँ उसने कब और कैसे सीखी। अपने बोलने के ढंग से वह लोगों को कभी हँसाता, कभी रलाता था। हिज हाइनेस आगा खाँ की अस्वस्थता का दृश्य दिखाकर ओर अपनी व्यथा को प्रकट कर उसने एक खोजा-दर्शक को बेहोश-सा कर दिया था। पन्द्रह रोज में प्रायः डेढ़ हजार रुपये की बचत रही। मैंने सलाह दी कि सारी रकम बैंक में जमा कर दी जाय, पर प्रीतम ने मेरी बात काट दी। बोला—हिन्दुस्तानियों की पुरानी आदत नहीं छूटी। अजी पैसे से पैसा पकड़ा जाता है। धन कमाने का तरीका अमेरिकन व्यवसायियों से सीखो। कानेंगी, राकफेलर,

फोर्ड इतने बड़े कैसे हुए ? उन्होंने जो कुछ कमाया, उसे तिजारत में ही लगा दिया । वम्बई के मिलवालों की इतनी बुरी हालत क्यों है ? उन्होंने जो कुछ कमाया उसे पेरिस और लन्दन में लुटा दिया । यह डेढ़ हजार तो हमें अपने व्यवसाय में ही लगा देना चाहिये । अभी और भी कितनी ही मूर्तियों की जरूरत है । कल रात देखा, एक शस्त्र बनारसीदास चतुर्वेदी को ढूँढ़ रहा था । मैं उनकी मूर्ति लाना तो भूल ही गया । आज ही दूसरा आर्डर वम्बई भेजता हूँ ।

सज्जनो, मैंने फिर हार खायी । प्रीतमदास जो चाहता था वही हुआ । यह रकम भी मोम में लग गयी ।

प्रीतमदास को मौके की बाने खूब मूँझती थीं । मोम के सम्बन्ध में तो न जाने उसे कितने उर्दू-अंग्रेजी के पद कठस्थ थे । मुझे खूब याद है, श्रीमती बेसेन्ट, श्रीयुत जमनादास द्वारकादास के होमरूल सम्बन्धी आन्दोलन की याद दिलाते हुए उसने व्यग्रपूर्वक कहा था—

शमा के साँचे बहुत हैं, मोम तो दिखलाइए ।

रूल मैं हाजिर करूँगा, होम तो दिखलाइए ॥

फिर एक दिन जब वह इन्दौर के भूतपूर्व नरेश और श्रीमती मीलर के विवाह का दृश्य दिखा रहा था, तब उसने यह कह कर क्याही मीठी चुटकी ली थी—

मोम की पुतलियों पर ऐसी तबियत पिघली ।

चमने हिन्द की परियों की अदा भूल गये ॥

हम लोग नैरोबी से ही लौट आते तो बहुत अच्छे रहते । पर किसी ने कहा है कि जब विनाश का समय आता है, तब बुद्धि विपरीत हो जाती है । प्रीतमदास पर यह धुन सवार हुई कि टैंगैनिका चलना चाहिए । उस देश का नाम लेने की भी इच्छा नहीं होती । मैंने जब पहली बार उसका नाम सुना, तभी प्रीतम से कहा कि वहाँ जाने को दिल गवाही नहीं देता; पर वह मेरी कब सुननेवाला था । वहाँ के धन-धान्य का ऐसा चित्र खींचा कि मेरा विरोध बिलकुल शान्त हो गया और मोम

की नयी-पुरानी मूर्तियों के साथ हम लोग एक दिन इस देश की राजधानी-
दाहस्सलम जा पहुँचे ।

मई का महीना था, सिद्धत की गर्मी पड़ रही थी । अँग्रेजी में जिसे
इक्वेटर और हिन्दी में विषुवत् रेखा कहते हैं, वह इसी नगर में
होकर गयी होगी । जिस पर बीतती है, वही जानता है । यहाँ की जल-
वायु की प्रशंसा करनेवालों को बंसी परिस्थिति का सामना करना पड़ता
तब देखते कि वह क्या कहते हैं ।

मि० घोष नाम के एक बंगाली बैरिस्टर से हम लोगों को बड़ी
मदद मिली । जिस दिन की दुर्घटना ने हमारा सर्वनाश किया, उस दिन
उन्हे रात में फुरसत न थी । मेरी राय थी कि तमाशा दूसरे दिन शुरू
किया जाय, पर प्रीतमदास के हठ ने यह होने न दिया । आखिर यही
तय हुआ कि पहले दिन का प्रोग्राम बीन बजे ही शुरू हो ।

प्रदर्शनी के लिए एक खेमा खड़ा किया गया था । दो बजे से ही
हम लोग प्रबन्ध में लग गये । प्रीतमदास ने कहा: आज भी गर्मी तो
बेचैन किये देती है और कहता हुआ एक बीतल बियर खाली कर गया ।
मैं दरवाजे के पास खड़ा था । प्रीतमदास मूर्तियों को देख-भाल कर
हिवस्की की एक बोतल हाथ में लिये लौटा । पास आकर बोला—आग
लग गयी ।

मैंने घबड़ाकर पूछा—कहाँ ?

उसने फिर यही कहा कि आग लग गयी । मुझसे न रहा गया ।
हाथ से बोतल छीनकर दूर फेंक दी और डपटकर कहा कि क्या
पागल की सी बकवास कर रहे हो । आग लग गयी; आग लग गयी ।

प्रीतमदास शान्त बना रहा । मेरी बात पूरी हो जाने पर धीरे-से
इतना ही कहा—मूर्तियाँ पिघलती जा रही हैं, मौलाना शौकत अली
तो मोम हो चुके ।

मैं कोई लेखक तो हूँ नहीं, फिर अपने उस समय के भाव को किन
शब्दों में प्रकट करूँ ? आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं । क्रोध से काँपते

हुए मैंने पूछा—मूर्तियाँ पिघलती जा रही हैं और तुम शराब की बोतल लिए फिर रहे हो। आखिर इसका मतलब ? मैं दौड़कर उधर जाना ही चाहता था कि प्रीतमदास ने मुझे रोक लिया। बोला—मैंने टेलीफोन करके पूछा था, पर फायर-ब्रिग्रेडवालों ने कोरा जवाब दिया, पानी कहीं है ही नहीं।

मैं हैरान था कि ऐसी हालत हो रही है और यह शरूस निश्चिन्तता और निश्चेष्टता की मूर्ति हो रहा है। अब मैं समझता हूँ वह मन-ही-मन परिस्थितियों को सँभालने का उपाय सोच रहा था। दो ही एक सेकेण्ड बाद उसने पूछा—कुछ बता सकते हो, क्या करना चाहिये ? नाव मँझधार में है और डूबने ही वाली है। कुछ बचे तो बचाओ। क्या सलाह है ?

मैंने कहा—मेरी सलाह यही है कि हम दोनों चुल्लू भर पानी में डूब मरे।

प्रीतमदास कुछ भी उत्तेजित न हुआ। बोला—इस समय चुल्लू भर पानी मिलने की आशा भी नहीं है। पर मैं एक उपाय बताता हूँ।

यह कहकर उसने 'प्लेकार्ड' उठा लिया जो पास ही पड़ा था और उसकी पीठ पर बड़े-बड़े अक्षरों में लालरंग से लिख दिया—

अर्थात्

अद्भुत प्रोग्राम

प्रथम और अन्तिम दिवस

महाप्रलय

पैसा पानी की तरह बहाकर मेरे क्रोध का ठिकाना न रहा। मैंने गरजकर कहा—अब लोगो की आँखों में धूल भोकेने चले। भारत-माता के मुख तो कालिख लगेगा ही, पर हम लोग भी जिन्दा न लौट सकेंगे। ऐसी धृष्टता !

पर प्रीतमदास ने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया। सिर्फ मुझे यह नोटिस देकर कहा—दरवाजे के पास इसे चिपका आओ। मैं

इसका विरोध न कर सका। उसके सामने मैं मंत्रमुग्ध सर्प-सा हो रहा था।

मैंने प्रीतमदास से पूछा कि कुछ बचा या नहीं। उसने बस यही जवाब दिया कि और कुछ तो नहीं, पर मौलाना शीकत अली का भारी-भरकम जूता बच गया है। जूते को उसने उठाकर एक खाई की ओर फेंक दिया।*

* ('मंचेस्टर गार्जियन' के सम्पादकीय विभाग के एक लेखक सी० ई० मौन्टेग्यू की एक कहानी का छाया अनुवाद। यह अनुवाद मुजफ्फरपुर से प्रकाशित 'लोक-संग्रह' के लिए किया गया था; परन्तु अभी तक यह अप्रकाशित रहा है। 'लोक-संग्रह' के जन्म-दाता स्व० सहजानन्द सरस्वती जी थे और उसके संपादक पं० यमुना कार्यों)।

पड़ोसिन

मेरी पड़ोसिन बाल-विधवा थी। मानो पाले की मारी, वृन्तच्युत शोफालिका के समान वह किसी कमरे की फूलगय्या के लिए नहीं किन्तु देवपूजा के लिए ही छोड़ दी गई हो।

मैं मन-ही-मन उसकी पूजा किया करता। इसके सिवा मैं उसे और किसी दूसरी दृष्टि से देखता था या नहीं—यह बताने की मेरी इच्छा नहीं, अपने-आप से भी नहीं।

मेरा प्यारा मित्र नवीन माधव भी इस विषय में कुछ न जानता था। अपने मन के आवेग को इस प्रकार गुप्त—अतणुव निर्मल रखने का मुझे गर्व भी था।

पर, मन का वेग पहाड़ी नदी के समान है। वह अपने जन्म-शिखर पर स्थिर रहना नहीं चाहता। किसी प्रकार बाहर निकलने की चेष्टा किये बिना नहीं रहता। और कृतकार्य न होने पर दिल को दुःख पहुँचता है। इसीसे मैं सोचने लगा कि कविता द्वारा अपने भाव प्रकाशित कर तो अच्छा हो किन्तु कुठिता लेखनी ने आगे बढ़ने से साफ इन्कार कर दिया।

आश्चर्य की बात यह हुई कि ठीक इसी समय मेरे मित्र नवीन माधव को भी कविता करने की प्रबल इच्छा हुई। बेंचारा बड़ी मुश्किल में जा पड़ा। छन्द और तुक का कुछ भी ज्ञान न होने पर भी उसने पीछे पैर रखना न चाहा। यह सब देखकर मैं अवाक् हो गया।

खैर नवीन ने इस विषय में सहायता और सशोधन के लिए मेरी शरण ली।

कविता का विषय नया न था, और पुराना भी न था। उसे बहुत नया भी कह सकते हैं और बहुत पुराना भी। प्रेमी की कविता प्रियतमा के प्रति। मैंने हँसकर पूछा—क्यों मित्र यह नायिका कौन है।

नवीन ने कहा—अभी तक तो कुछ खबर नहीं।

नवीन की कविताओं का संशोधन करना मुझे बहुत अच्छा जान पड़ा। उन्हीं कविताओं के संशोधन द्वारा मैं उसकी काल्पनिक प्रियतमा के प्रति अपने रुद्ध आवेग का प्रयोग करने लगा। बेबच्चे की मुर्गी जिस प्रकार हंस का अंडा पाकर उसे अपने कलेजे से लगा कर बैठती है, उसी प्रकार मैं भी नवीन माधव के भाव को अपने हृदय के सारे उत्ताप से दबा बैठा। नवीन की कविता का संशोधन मैं इतना अधिक करता कि उसमें प्रायः १५ आना मैं अपनी ओर से मिला देता।

नवीन विस्मित होकर कहता—ठीक यही बातें मैं भी कहना चाहता था, पर कह न सका, तुम ये सारे भाव कहाँ से लाते हो?

और, मैं कवि की तरह उत्तर देता—कल्पना से। क्योंकि सत्य है नीरव और कल्पना है मुखरा। सत्य घटना भाव-स्रोत को बन्द कर देती है पर कल्पना उसके मार्ग को खोल देती है।

नवीन कुछ सोचकर बड़ी गम्भीरता से कहता—मैं भी यही देखता हूँ। ठीक है।—और फिर कुछ देर बाद कहता—ठीक ! ठीक ! ?

नवीन ने कहा—कविताओं का अधिकांश तो तुम्हीं लिखते हो। अतएव उन्हें तुम्हारे ही नाम से निकालना ठीक होगा।

मैंने कहा—नहीं, केवल कुछ अदल-बदल कर देता हूँ। धीरे धीरे नवीन का भी ऐसा ही विश्वास हो चला। ज्योतिषी जिस प्रकार नक्षत्रोदय की अपेक्षा से आकाश की ओर दृष्टि लगाते हैं, मैं भी अपने पास वाले मकान की खिड़की की ओर, बीच-बीच में, उसी प्रकार देखा करता था—यह बात मैं छिपा नहीं सका। कभी-कभी मेरा दृष्टिक्षेप सार्थक भी हो जाता था। कर्मयोग में लगी हुई

उस ब्रह्मचारिणी की सौम्य मुख-श्री से प्रतिबिम्बित होकर एक शान्त और स्निग्ध ज्योति मेरे सारे चित्तक्षोभ को, पल मात्र में, दूर कर देती थी।

पर, उस दिन सहसा मैंने यह क्या देखा ? मेरे चन्द्रलोक में भी क्या अभी तक उत्ताप है ? वहाँ की जनशून्य समाधिमग्न गिरि-गुहाओं का सारा अग्निदाह क्या अभी तक निर्वाणपद को नहीं पहुँचा ?

वैशाख का महीना था। आकाश में ईशानकोण से बादल उमड़ चले थे। उस समय मेरी पड़ोसिन खिड़की पर अकेली खड़ी थी। उस दिन मैंने उसकी आँखों में चारों ओर फैली हुई निविड़ वेदना के चिन्ह देखे।

है—मेरे चन्द्रलोक में अभी तक उत्ताप है। अभी तक यहाँ का निश्वास उष्णता-परिपूर्ण है। उसकी आँखों की व्याकुलता उस दिन किसी व्यग्र पक्षी की तरह बड़े वेग से उड़ चली थी। स्वर्ग की ओर नहीं, मनुष्य के हृदय-नीड की ओर।

वस, इसी समय से मेरे लिए अपने चित्त को सुस्थिर रखना कठिन हो गया। अब कोरी कविता के सशोधन से तृप्ति न होती थी। किसी प्रकार कुछ काम करने के लिए मैं चंचल हो उठा।

संकल्प किया कि वंगदेश में विधवा-विवाह का प्रचार करने के लिये कुछ भी उठा न रखूँगा। केवल वक्तृताओं और लेखों ही से नहीं, धन से भी सहायता करने के लिए अग्रसर हुआ।

नवीन मेरे साथ वाद-विवाद करने लगा। वह बोला “चिरवैधव्य में एक पवित्र शान्ति है। एकादशी की क्षीण ज्योत्सनालोकित सभाधिभूमि की तरह उसमें एक विलक्षण रमणीयता है। विवाह की सम्भावना मात्र से इस सब का नाश हो जायगा।”

यह सब कवित्व की बात सुन कर मुझे क्रोध हो आता। अकाल के दिनों में जो आदमी भूखों मर रहा है उसके सामने खाद्य वस्तुओं पर घृणा प्रकट करना और फलों की सुगन्ध और पक्षियों

के गान से उसका पेट भरने की कोशिश करना मूर्खता नहीं तो क्या है ?

मैंने कहा—भाई, देखो, चित्रकार और शिल्पी लोग कहते हैं कि कला-शिक्षित दृष्टि से जले हुए मकान में भी बड़ा सौन्दर्य दिखाई देता है। लेकिन मकान को इस तरह देखने से काम नहीं चलता। उसमें वास करना होता है। इसलिए शिल्पी चाहे जो कहे, पर मकान की मरम्मत जरूरी है। वैधव्य के ऊपर तुम तो दूर बैठे कविता करना चाहते हो, पर उसके भीतर एक आकाक्षापूर्ण मानव हृदय अपनी विचित्र वेदना के साथ वास कर रहा है—यह भी तुम्हें जानना आवश्यक है।

नवीन ने एक लबी साँस छोड़ कर मेरी सारी बातें मान लीं। एक हफ्ते के बाद नवीन ने आकर कहा—अगर तुम मेरी मदद करो तो मैं विधवा-विवाह करने को तैयार हूँ।

सुनकर बड़ी खुशी हुई। नवीन को कलेजे से लगा कर मैंने कहा—जो खर्च पड़ेगा मैं दूँगा। तब नवीन ने अपना सारा हाल कह सुनाया।

मालूम हुआ कि नवीन की प्रियतमा काल्पनिक नहीं। वह कुछ दिनों से एक विधवा को प्यार करता था। पर वह बात उसने कहीं प्रकट नहीं की थी। जिस मासिक पत्र में मेरी कविता नवीन के नाम से प्रकाशित होती थी वह उस विधवा के घर बराबर पहुँचा करता था। कविता व्यर्थ न जाती थी। बिना भेट के मन खींचने का यह अच्छा उपाय मेरे मित्र ने खोज निकाला था।

किन्तु नवीन ने कहा कि उसने किसी गूढ़ विचार से यह काम नहीं किया था। और तो क्या उसका विश्वास था कि विधवा पढ़ना-लिखना भी नहीं जानती। विधवा के भाई के नाम से पत्र की एक कापी बिना मूल्य वह प्रतिमास भेज दिया करता था। मन को सान्त्वना देने के लिए यह एक प्रकार का पागलपन मात्र था। नवीन सोचता था कि देवता

के उद्देश्य से मैं पुष्पाजलि दे चुका—वे जानें या न जानें, ग्रहण करें या न करें ।

विधवा के भाई के साथ नवीन ने जो बन्धुत्व जोड़ा था, नवीन का कहना था कि उसमें भी उसका कोई मतलब न था । जिसको कोई प्यार करता है उसके बन्धु-बान्धवों का साथ भी उसे यों ही अच्छा जान पड़ता है ।

पीछे, भाई की बीमारी में, नवीन की भेट अपने उस बन्धु की बहन से कैसे हुई, यह बड़ी लम्बी कहानी है । नवीन के विवाह-प्रस्ताव पर विधवा पहले तो राजी न हुई, पर अन्त में नवीन ने मेरी सारी युक्तियों का प्रयोग करके और उसके आँसुओं में अपनी आँखों के दो चार जलविन्दुओं को मिलाकर उसे मना लिया । अब विधवा के अभिभावक कुछ रुपया चाहते हैं ।

मैंने कहा—अभी ले जाओ ।

नवीन ने कहा विवाह के बाद मेरे पिता मेरा खर्च पाँच-छ महीने तक जरूर वन्द कर देंगे । तब हम दोनों के खर्च के लिए भी कुछ उपाय कर देना होगा । मैंने कुछ न कह कर एक चेक लिख दिया । मैं बोला—नवीन, अब तो उसका नाम-धाम मुझे बता दो । कुछ भय मत करो । अब उसके नाम से मैं कविता न लिखूंगा । अगर लिखूंगा भी तो उसे उसके भाई के पास न भेजकर तुम्हारे पास भेज दूँगा ।

नवीन ने कहा—अरे, उसका मुझे डर नहीं । विवाह करने के कारण विधवा लज्जा से कातर है । इसी कारण उन्होंने तुम्हारे साथ उनके विषयमें आलोचना करने से मुझे मना कर दिया है । पर अब नाम छिपाना ठीक नहीं । वह तुम्हारी ही पड़ोसिन है, जो १९ नंबर वाले मकान में रहती है ।

हृत्पिंड अगर लोहे का 'बायलर' होता तो उसी क्षण धक कर के कट जाता ।

मैंने पूछा—विवाह करने में अब तो उनकी असम्मति नहीं है ?

नवीन ने हँसकर कहा—इस समय तो नहीं दें ।

मैंने कहा—क्या कविता पढ़ कर ही वह इतनी मुग्ध हो गई ?

नवीन बोला—क्यों, मेरी कविताएँ क्या ऐसी-वैसी थी ?

मैंने मन ही-मन कहा—धिकार ! धिक्कार किस को ? उसको मुझको, या विधाता को, पर धिक्कार ! *

(सरस्वती, जनवरी, १९१६)

* यह कविता बंगला के उदीयमान लेखक और कवि श्री रवीन्द्र-नाथ ठाकुर के एक गल्प से अनुवादित की गयी थी । रवीन्द्र बाबू को हाल ही में नोबेल पुरस्कार मिल चुका था ।

प्रश्नोत्तर

‘सरस्वती’ में प्रश्नोत्तर से आरम्भ कर मैंने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर जी की कुछ कविताओं का अनुवाद उनके ‘कणिका-क्षणिका—जैसे ग्रंथों से किया था। कुछ ही समय पहले रवि बाबू नोबेल पुरस्कार पाकर विश्व-विख्यात हो चुके थे। हिन्दी के पाठकों को उनका परिचय प्रदान करने के उद्देश्य से ही मैंने ये अनुवाद किये थे।

बालक की आँखों पर आकर

लेती जो निद्रा विश्राम ।

विदित किसी को क्या है, जग में,

उस देवी का पावन धाम ?

निर्जन वन है कोई, होता

जहाँ सदा खद्योत प्रकाश ।

किसी पुष्प की दो कलियों के

बीच वही है उसका वास ॥

बालक के ओठों पर जब तब

देखी जाती जो मुसकान ।

बतलावेगा कोई मुझ को

उसके उद्गम का सस्थान ?

बाल-शशी की किरण हुई थी

जाकर शरन्मेघ में लीन ।

जहाँ, वही पर, सब से पहले,

उपजो वह मुसकान नवीन ।

सो ले विदा निज धाम से—

निद्रा जगत् में घूमती ।

और, यह मुसकान आकर

ओठ मीठे चूमती ।

(सरस्वती, दिसम्बर, १९१४)

आदि रहस्य

वंशी बोली—वश मेरा क्या ? मैं करती हूँ शोर—
जभी मुझे बाहर से मिलता किसी फूक का जोर ।
कहा फूक ने—पवन मात्र मैं, मेरा ही है ध्यान—
किन्तु बजाता जो जन वंशी, उसका किस को ज्ञान ?

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, अगस्त, १९१६)

अज्ञात कारण

पर सेवा है व्रत रजनी का, इससे वह आती चुपचाप
और विपिन की सब कलियों को विकसित कर हट जाती आप ।
पुष्प, सुबह उठकर, सब कहते—हम हैं उषाकाल के फूल,
और बोलती ऊषा मुखरा—ठीक, ठीक—इसमें क्या भूल ।

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, अगस्त, १९१६)

असम्पूर्ण संवाद

रोकर बोली कभी चकोरी—हे हे पूर्ण चन्द्र राकेश !
विद्वज्जन-वाणी सुन मुझको होता है सन्देह विशेष,
क्या तेरा भी हो जावेगा प्रलयकाल आने पर अन्त ?
अहो निशा पति ! गति तब मेरी, सोचो, क्या होगा हा हन्त ! !
कहा शशी ने—मेरी चिन्ता मत कर, जा विजो के पास
और पूछ आ कब तक तेरे लिखा भाग्य मे भोग-विलास ।
(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, अगस्त, १९१६)

उच्च का प्रयोजन

समतल भूमि खिन्न हो मन मे, बोली—हा कैसा अविचार,
केवल मेरे फल-फूलों से भरता हाट-बाट, बाजार—
फिर भी पर्वत राज वहा है ! —विधि ने इन्हे रचा बेकार—
ऊँचे सिंहासन पर बैठे करने ये हैं व्योम-विहार !
गिरि ने कहा—ठीक, पर, होता समतल यदि सारा ससार,
तो मानव कुल कैसे पाता भरने की निर्मल जलधार ?
(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, अक्टूबर, १९१६)

कर्तव्य-ग्रहण

सन्ध्या रवि ने पूछा—मेरा कार्य अब लेगा कौन ?
मुन कर यह रह गया जगत् तब चित्र समान निरुत्तर मौन ।
मिट्टी का दीपक जलता था, उसने कहा विनय के साथ—
विदा आप हो—शक्ति जह तक कार्य करूँगा मैं दिननाथ ।

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, अक्टूबर, १९१६)

भक्ति भाजन

रथयात्रा में भीड़ बड़ी है, धूम-धाम है आज तमाम,
प्रेममग्न हो पथ पर, देखो, करता भक्त समाज प्रणाम ।
पथ अपने को देव समझता, रथ अपने को लेता मार्ग,
मूर्ति समझती देव स्वयं को—हँसते मन ही मन भगवान् ॥

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, अक्टूबर, १९१६)

वन और राज्य

हुआ दिवस अवसान—म्लानमुख, शयन भवन में पहुँचे राम,
शय्या का अंशार्द्ध आज था शून्य, विधाता की गति वाम !
जा समीप, उस पर ही रक्खा प्रभु ने परिश्रान्त निज भाल,
देवशून्य देवालय भीतर भक्त सदृश था उनका हाल ।
नेत्र-नीर से भीग, छोड़ते हुए वहाँ कातर निश्वास,
हो नतजानु भूमि पर, बोले—सच है, जब तक था वनवास,
मणिमाणिक्य और मुक्ताफल, इनसे रिक्त सदा थे हाथ—
पर, लक्ष्मी ! प्रत्यक्ष रूप से तू फिरती थी मेरे साथ ।
आज राज्य का मैं अधीश हूँ, किन्तु,—रहेगी तू क्यों पास
अब देता मैं भक्त हृदय को प्रतिमा पूजन का आश्वास ॥
अहा ! अहा ! नित्य सुख दीनवेश से चला गया फिर वन की ओर,
स्वर्णमयी पर चिरव्यथा रह गई राम के संग कठोर ।

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, दिसम्बर, १९१६)

विश्व-प्रेम

वह अपना है या नहीं—यह अति क्षुद्र विचार,
है उदार जन के लिए निज कुटुम्ब संसार !
किसी भग्न प्राचीर में छिद्र एक प्राचीन,
खिला पुष्प उस बीच है नाम-गोत्र से हीन ।
दृष्टि-पात करता नहीं उसपर लोक-समाज—
सूर्य मुबह उठ पूछता—बन्धु ! कुशल है आज ?

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, नवम्बर, १९१६)

कालिदास के प्रति

हम सब जो अब सुख दुःख पाते हुए न तुमको प्राप्त सभी ?
आशा और निराशा का क्या तुम्हें न दीखा द्वन्द्व कभी ?
अहो अमर कवि ! राज-सभा में रचे न क्या षडचक्र गये ?
किये न प्रतिपल दुर्जन जन ने तुम पर गुप्ताघात नये ?
निशाकाल में चिन्तानल से गले न तुम क्या किसी घड़ी ?
व्यथा शूल लगने के कारण कभी न तुमने आह भरी ?
अविश्वास, अपमान, अनादर—इनका क्या था नाम नही ?
क्या अन्याय, अभाव कठिन से पड़ा न तुमको काम कही ?
फिर भी, कविवर ! काव्य तुम्हारा रह निर्लिप्त और निर्मल,
उठा पकमय जल के ऊपर बन कर क्या सौंदर्य कमल !
इस घर छाया दुःखदैत्य की आज सकेगा कौन बता ?
दुर्दिन की रचनाओं का अब कौन सकेगा लगा पता ?
जीवन मंथन से जो निकला विष वह तुमने पान किया ।
और अमृत जो बाहर आया उसे जगत् को दान दिया ॥

(रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, मार्च, १९१७)

प्यार का अत्याचार

“इस कारागार में बन्दी रहे सन्तान मम,
मत ज्ञान रवि की रश्मियाँ दें दूर कर अज्ञानतम”—
यो भ्रान्त हो जननी ! न रवि तव द्वार पर प्रहरी कभी,
तज सोच, अन्धे मोह का तू खोल दे बन्धन अभी ।
रख प्रेम के ही स्पर्श से वेष्टित उसे हा ! जन्मभर,
दे और लालन-रस बहुत, सब अग उसके जीर्णकर,
पुरुषत्व शोषण कर सभी, इस भाति, हर स्वाधीनता,
क्या तू मिटावेगी क्षुधा निज चित्त की ? सब सच बता,
रख गर्भ में बहुकाल तक तू ने किया बाहर जिसे,
क्यों स्नेह के फिर गर्भ में अब चाहती रखना उसे ?
पीछे सदा तेरे चले वह ? साथ मत छोड़े कही ?
वह अश तेरा भाग है ? पर और कुछ भी है नहीं ?
मत तू उसे निज धन समझ, यह व्यर्थ सब अनुरक्त है,
पर न अपनी, विश्व की, विश्वास की सम्पत्ति है ।

{ रवीन्द्रनाथ की मूल कविता से—सरस्वती, जनवरी, १९१७ }

तुम भी आगे बढ़ते जाओ

(स्वामी विवेकानन्द की एक अंग्रेजी कविता का भावार्थ)

(१)

रवि जो मेघों से छिप जावे,
नभ वस अन्धकार दिखलावे,
धीर ! समर में मुख मत मोड़ो,
होगी जय मन माहम छोड़ो !

(२)

चला शीत जब जग से जाता
प्राणप्रद ऋतुपति है आता
दुख-सुख का यो आना जाना
नही जरा भी तुम घबराना ।

(३)

है कर्तव्य कठिन सब नर के
सुख है सारहीन, क्षण भर के
लक्ष्य न साफ नजर आता है
अन्धकार बढ़ता जाता है—

(४)

तुम भी आगे बढ़ते जाओ,
तम से भीति जरा मत पाओ ।
जो सत्कर्म बीज है बोते
कब निराश वे फल से होते ?

(५)

सज्जन-विद्वज्जन मुट्ठी भर
 किन्तु वही नेता बसुधा पर ।
 जन साधारण को तो मोती
 की पहिचान देर से होती ।

(६)

शक्ति देव है साथ तुम्हारे
 और दूरदर्शी जन, प्यारे ।
 सब के आशिष के भागी हो,
 अगर सत्य के अनुरागी हो ।

(सरस्वती, नवम्बर, १९२०)

कर्टिस की कुतिया

['लोक-संग्रह' में छपा था कि मुजफ्फरपुर की लेडी डाक्टर मिस कर्टिस एकाएक लापता हो गयी और अपनी स्मृति के साथ अपनी एक कुतिया भी जानवरों के अस्पताल में छोड़ गयी । अस्पतालवालों ने कुतिया को स्वस्थ तो कर दिया, पर उसे वहां रखकर खिलाना-पिलाना उनकी शक्ति के बाहर था । इसलिए उन्होंने इस लावारसी माल को बेच देने का उद्योग किया । उन्हें उसके कारण जो खर्च पड़ा था उसे वसूल करना था और उससे पीछा छुड़ाना था । पर चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं और कुतिया न बिकी । तब वह इस सूचना के साथ कई रईसों के पास भेजी गयी कि जो इसे रखना मंजूर करे वह इसे मुफ्त ही पा सकता है । पर इस पर भी किसी का दिल न पसीजा । अन्त में अस्पतालवालों ने कुतिया दान कर दी और इस समय वह वहाँ के मेहतर के चरणों की दासी हो रही है ।]

कुतिया ! आखिर गयी कहाँ तू ?

कौन किनारे नाव लगी ?

भार-स्वरूप हुई क्या तू जो

कर्टिस तुझको छोड़ भगी ?

पड़ा 'लोक-संग्रह' में जो कुछ

उसने दिलपर असर किया,

मुझको तेरा समव्यथी सा

पलभर में ही बना दिया ।

सचमुच ही क्या कर्टिस तुझको

छोड़ सदा के लिये गयी ?

घर करती जाती है उसके
 दिल में कुनिया कही नहीं ?
 और कभी की वैसी प्यारी
 तू फिरती दर दर मारी,
 किन्तु न लेती खोज खबर है
 तेरी वह निर्दय नारी ?
 समय अचानक बदल गया यो,
 कैसे यह विश्वास करूँ ?
 पर 'संग्रह' का समाचार पढ़
 कैसे मन में धीर धरूँ ?
 एक समय था तू मोटर से
 नीचे पैर न धरती थी ।
 कोपता और कबाब, इन्हीं से
 क्षुधा शान्ति निज करती थी—
 आज तुम्हीं को दुर्लभ दिखती
 रूखी-सूखी भी रोटी ।
 बड़ी कहाती फिरती थी जो
 गयी गजब की बन छोटी !
 एक जमाना वह था जब तू
 सुखशय्या पर सोती थी,
 खांसी की भी अस्पताल में
 भली चिकित्सा होती थी—
 आज उसी की यह हालत हो—
 मिले न उसको ठौर कहीं,
 छून को भी उसे शहर में
 कोई हो तैयार नहीं !

सभी रईमों ने ठुकराया,
 रखने से इकार किया;
 बोली कुतिया:—“धिक् है मुझको !
 क्यों था मैंने जन्म लिया !”

घर घर घूमी कुतिया लैली,
 मिला न मजनू उमे यहा ,
 कहा भूक कर उसने:—“मिरी
 मौत ! बता तू रुकी कहा ?”

पर न मरी अब तक वह, दुख के
 आसू गोज बहानी है ।
 मिली दान मेहतर को, उसकी
 ही कुतिया कहलाती है ।

लिया दान में भी कुतिया को
 जिसने वह है दया घनी,
 दयाधाम की उस पर प्रतिफल
 दया दृष्टि बस रहे बनी ।

और मुजफ्फरपुर के पाठक
 मत समझें सुख स्थायी है
 समय बदलता क्षणभर में ही,
 बन जाता दुखदायी है !

हूँसने की यह बात नही है,
 सबक सभी इससे कुछ ले;
 समझ इसे साहित्यिक चूर्न
 मत अपने को धोखा दें !

“कर्टिस की कुतिया” को पारो !
 मत भूलो इस जीवन में,

यद्यपि घटना घटी यहीं है
 तुम सबके घर आँगन में ।
 कुतिया ! जहाँ कहीं तू होवे
 जल्दी तेरा समय कटे
 और नगर यह कई युगों तक
 तुझ दुखिया का नाम रटे !
 * * *

धन की माया ! मोटर बैठी
 क्या तू शान दिखाती है ?
 कर्टिस की कुतिया घागड़ की
 देख ठोकरें खाती है !
 (लोक-संग्रह से, श्रावण शुक्ल सं० १९८५)

[यह कविता स्व० स्वामी सहजानन्द सरस्वती के लोक-संग्रह में उस समय प्रकाशित हुई थी, जिस समय उसके सम्पादक पं० यमुना कार्यों अपने कुछ मित्रों के साथ मुजफ्फरपुर में कल्याणी के आस-पास रहते थे और कलमबाग रोड में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के तत्कालीन चेयरमैन सर चन्द्रेश्वर प्रसाद नारायण सिंह के यहां हम लोगों की रोज सुबह-शाम गोष्ठी-सी हुआ करती थी । मेरे कुछ लेख 'लोक-संग्रह' में प्रकाशित हुए थे, पर इस समय मित्रवर श्री कार्यों जी की अस्वस्थता के कारण वे प्रायः दुष्प्राप्य हैं ।—लेखक]

नेता

नेता वह जो साथ चलावे,
जैसी जहाँ राह बतलावे,
पथिकों को उत्साह दिलावे,
बाधाओं से उन्हें बचावे ।

औघट घाटी से ले जाये,
व्योम-मार्ग से कभी उड़ाये,
सात समुन्दर पार कराये,
जाना जहाँ वहाँ पहुँचाये ।

भूतकाल का ज्ञान जिसे हो,
आगामी का ध्यान जिसे हो,
पैरों की पहचान जिसे हो,
पुरखों का अभिमान जिसे हो ।

जड़ता जिसके पास न फटके,
भ्रम में पड़ कर स्वयं न भटके,
लगें हवा पानी के भटके—
पथ-दर्शक जो कहीं न अटके ।

देश-काल से जो परिचित हो,
यत्न-युक्ति साधन-परिमित हो,
अन्तर भारत-भक्ति-भरित हो,
ध्येय यही-पथिकों का हित हो,

सरल कठिन को भी जो माने
दलदल में भी तंबू ताने,
तन मन कभी न दे अलसाने
चल दे जब चलने को ठाने

पड़े चोर-डाकू से पाला—
गहे हाथ में लाठी-भाला,
हो कर बेसुध या मतवाला—
फेरे नहीं मोह की माला

रहे सदा सेना के आगे,
प्रहरी-सम निशीथ में जागे,
अवसर जब जीवन-बलि माँगे
जो न छोड़ रण-आँगन भागे

जो कर्तव्य उसे मत टाले,
हो निःस्वार्थ लोक को पाले,
जो मधुकरी मिले सो खा ले,
प्रजा-कोष में हाथ न डाले,

जिसमें सेवापन रमता हो—
फल-स्वरूप शासन-क्षमता हो,
मन में सब के प्रति ममता हो,
आँखों में सब की समता हो ।

जिसमें हो ऐसा आकर्षण,
जुट जायें सारे बिखरे कण,
निर्मित हो आरोही जन-गण,
जिसका कभी न हो अवरोहण ।

बिगड़ चुका जो उसे बनाना,
गिरा हुआ जो उसे उठाना,
जीवन-बिटप समूल बचाना,
जिसका हो यह व्रत, यह बाना ।

भुजा उठा कर, जो निर्माता
भूतल पर सुरसरि ले आता,
मरु-स्थल को जो सरसाता,
उसमें नन्दन-वन बन जाता

खाली पेट—उन्हे जो भर दे,
वस्त्रावृत नंगों को कर दे,
गृह-विहीन को सुख-कर घर दे,
दुःख अभाव-जनित सब हर दे ।

जो उमंग की आग जगा दे,
मन से भय का भूत भगा दे,
निबंल को फिर सबल बना दे,
जो चिड़ियों से बाज लड़ा दे ।

ऐसा नेता देश दुलारा
बन इतिहास-गगन में तारा
—उसका चमके जहाँ दुषारा—
रहे सदा ही पूज्य हमारा ।

(संगम से)

रघुपति, राघव, राजाराम

रघुपति, राघव, राजाराम !
साहस तथा शौर्य के धाम !
नाव प्रजा की है मँझघार;
फटे पाल, टूटी पतवार;

नाविक दिशा-ज्ञान से हीन,
हृदय सभी के दुर्बल दीन ।
भूला बैठा भारतवर्ष,
छोड़ गये जो तुम आदर्श;

फिर कैसे हो बेड़ा पार ?
क्यों न उसे लूटें बटमार ?
होकर निष्क्रिय, हो निःशक्त,
हम अब बने अहिंसा-भक्त ।

गाना नया, नयी ही तान—
'सीता हरण नहीं अपमान !'
'बुरा सदा होता प्रतिकार,'
यह है इन गीतों का सार ।

किन्तु और ही थे वे गीत—
नये तरानों के विपरीत—
जिनसे फैली संस्कृति आर्य्य,
बने महत्त्वपूर्ण सब कार्य्य;

जिनसे रहा सुरक्षित धर्म ।
ऋषियों की शिक्षा का मर्म—
जिनसे भारत हुआ विशाल,
गौरव-चन्दन-चर्चित - भाल !

जिनसे था रागों का मेल,
आग और पानी का खेल—
दया-दण्ड या ताड़न-प्रीति
यह थी अनुशासन की रीति ।

कोमल कठिन एक ही साथ,
तुम थे जनतापति रघुनाथ !
जहाँ भक्ति थी या अनुरक्ति,
वहीं वास करती थी शक्ति ।

कभी दृगों से बहता नीर,
कभी चाप से चलते तीर ।
दया-क्षमा के पारावार,
ऋक्षात्र धर्म के थे अवतार ।

दुष्ट-दलन भी था परधर्म,
वेद-शास्त्र-अनुमोदित कर्म—
इससे जा समुद्र के पार
राक्षस-कुल का कर संहार,

भारत के बाहर, रत्न खेत,
तुम लौटे थे निज साकेत ।
किन्तु तुम्हारे वंशज आज
हैं पुरुषार्थहीन रघुराज !

कहाँ तीर वह कहाँ कमान ?
कौन करे वह शर-संधान ?
वैसी स्थिति में अब कर्तव्य
नेताओं का बस—वक्तव्य !

‘गये यहाँ से दो सौ तार,
चुप बैठी लंका-सरकार,
उचित यही क्या है बर्ताव ?
बढ़ सकता इससे सद्भाव ?

‘असंतोष है यहाँ अपार,
करे क्षीघ्र ही आप विचार ।
दें सीता को फौरन छोड़
बा लें हमसे नाता तोड़ ।’

ऐसे और बहुत से तार
पहुँचेंगे लंकापति-द्वार ।
जिनके नहीं अस्त्र या शस्त्र,
वे बुनते बातों का वस्त्र

बनता बातों ही से काम,
पृथ्वी पर क्यों जाते राम ?
या ले बानर-सेना संग,
कर अपना भरपूर निषंग ।

क्यो जाते वह दूर विदेश ?
रावण को करने निःशेष ?
जो सुबुद्धि से रीता, राम ?
उसे समझ दो, सीताराम !

रूप तुम्हारा नम्य हो, जो औरों को नाथ !
मेरा मस्तक तब नवे घनुष-वाण हो हाथ ।

(संगम, १९ अक्टूबर, १९४७ से)

—

~~17 16 15 14 13 12 11~~

17 16 15 14

SSK

آخری درج شدہ تاریخ پر یہ کتاب مستعار
لی گئی تھی مقررہ مدت سے زیادہ رکھنے کی
صورت میں ایک آنہ یومیہ دیرانہ لیا جائیگا۔

24/5/58

11
11 58

تجربہ خانہ

۱۔ اگر ایک عین باج میں تھا، عین غلطی
 میں سمجھتا تھا کہ یہ ایک کیلکولیٹر ہے۔

۲۔ سارا دن جاننا کہ وہ کیا کر رہا ہے، اور اس کی زندگی
 میں کیا تبدیلیاں آ رہی ہیں۔

۳۔ ایک دن اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔
 اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔

۴۔ ایک دن اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔
 اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔

۵۔ ایک دن اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔
 اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔

۶۔ ایک دن اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔
 اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔

۷۔ ایک دن اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔
 اس نے کہا کہ وہ ایک نیا کام کر رہا ہے۔

